

Chapter पाँच

प्रजापति दक्ष द्वारा नारद मुनि को शाप

इस अध्याय में यह बताया गया है कि किस तरह नारद की सलाह मानने से दक्ष के सारे पुत्रों का माया के पाश से उद्धार हो सका जिसके लिए नारद को दक्ष द्वारा शाप दे दिया गया था।

भगवान् विष्णु की माया के प्रभाव से प्रजापति दक्ष ने अपनी पत्नी पाञ्चजनी के गर्भ से दस हजार पुत्र उत्पन्न किये। ये पुत्र एक जैसे चरित्र तथा मनोवृत्ति के होने के कारण हर्यश्च कहलाते थे। अपने पिता द्वारा अधिकाधिक सन्तानें उत्पन्न करने का आदेश दिये जाने पर हर्यश्चगण पश्चिम दिशा में उस स्थान पर गये जहाँ सिन्धु नदी अरब सागर से मिलती है। उन दिनों वहाँ पर एक पवित्र झील थी जो नारायण सरस नाम से प्रसिद्ध थी, जहाँ अनेक सन्त पुरुष थे। हर्यश्चगण तपस्या तथा ध्यान करने लगे जो अत्यन्त सम्मानित संन्यास आश्रम के कार्य हैं। किन्तु जब श्रील नारद मुनि ने इन बालकों को मात्र भौतिक सृष्टि के लिए ऐसी प्रशंसनीय तपस्या में रत देखा तो उन्होंने उन सबों को इस प्रवृत्ति से छुड़ाने का विचार किया। नारद मुनि ने इन बालकों को उनके जीवन के परम लक्ष्य के विषय में बतलाया और उन्हें सलाह दी कि वे सन्तानें उत्पन्न करने के लिए सामान्य कर्मी न बनें। इस तरह दक्ष के सारे पुत्र प्रबुद्ध हो गये और वापस न लौटने के विचार से उन्होंने उस स्थान का त्याग कर दिया।

पुत्रों की हानि पर प्रजापति दक्ष अत्यन्त दुखी थे और उन्होंने अपनी पत्नी पाञ्चजनी के गर्भ से एक हजार पुत्र और उत्पन्न किये और उन्हें सन्तानें बढ़ाने के लिए आदेश दिया। इन पुत्रों का नाम

सवलाश्व रखा गया जो सन्तानें उत्पन्न करने के लिए भगवान् विष्णु की पूजा करने में लग गये, किन्तु नारद ने उन्हें सन्तानें न उत्पन्न करने तथा साधु बनने के लिए आश्वस्त किया। दो बार जनसंख्या बढ़ाने के अपने प्रयासों को विफल होते देखकर प्रजापति दक्ष नारद मुनि पर अतीव क्रुद्ध हुए और उन्हें यह कहते हुए शाप दिया कि भविष्य में वे किसी भी स्थान में ठहर सकने में समर्थ न हों। चूँकि पूर्ण योग्य होने से नारदमुनि सहिष्णु थे, अतएव उन्होंने दक्ष का शाप स्वीकार कर लिया।

श्रीशुक उवाच

तस्यां स पाञ्चजन्यां वै विष्णुमायोपबृंहितः ।
हर्यश्वसंज्ञानयुतं पुत्रानजनयद्विभुः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; तस्याम्—उस; सः—प्रजापति दक्ष; पाञ्चजन्याम्—पाञ्चजनी नामक अपनी पत्नी; वै—निश्चितही; विष्णु-माया-उपबृंहितः—भगवान् विष्णु की माया द्वारा सक्षम बनाया गया; हर्यश्व-संज्ञान्—हर्यश्व नामक; अयुतम्—दस हजार; पुत्रान्—पुत्रों को; अजनयत्—जन्म दिया; विभुः—शक्तिशाली होने से।

श्रील शुकदेव गोस्वामी ने कहा : भगवान् विष्णु की माया से प्रेरित होकर प्रजापति दक्ष ने पाञ्चजनी (असिक्नी) के गर्भ से दस हजार पुत्र उत्पन्न किये। हे राजन्! ये पुत्र हर्यश्व कहलाये।

अपृथग्धर्मशीलास्ते सर्वे दाक्षायणा नृप ।
पित्रा प्रोक्ताः प्रजासर्गे प्रतीचीं प्रययुर्दिशम् ॥ २ ॥

शब्दार्थ

अपृथक्—एकसमान; धर्म-शीलाः—अच्छा चरित्र तथा स्वभाव; ते—वे; सर्वे—सभी; दाक्षायणाः—दक्ष के पुत्र; नृप—हे राजन्; पित्रा—पिता द्वारा; प्रोक्ताः—आदेश दिये गये; प्रजा-सर्गे—जनसंख्या बढ़ाने के लिए; प्रतीचीम्—पश्चिमी; प्रययुः—वे गये; दिशम्—दिशा में।

हे राजन्! प्रजापति दक्ष के सारे पुत्र समान रूप से अत्यन्त विनम्र तथा अपने पिता के आदेशों के प्रति आज्ञाकारी थे। जब उनके पिता ने सन्तानें उत्पन्न करने के लिए उन्हें आदेश दिया तो वे सभी पश्चिमी दिशा की ओर चले गये।

तत्र नारायणसरस्तीर्थं सिन्धुसमुद्रयोः ।
सङ्गमो यत्र सुमहन्मुनिसिद्धनिषेवितम् ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

तत्र—उस दिशा में; नारायण-सरः—नारायण सरस नामक झील; तीर्थम्—अत्यन्त पवित्र स्थान; सिन्धु-समुद्रयोः—सिन्धु नदी तथा समुद्र का; सङ्गमः—संगम; यत्र—जहाँ; सु-महत्—अत्यन्त महान्; मुनि—मुनियों; सिद्ध—तथा सिद्ध मनुष्यों द्वारा; निषेवितम्—रहते हुए।

पश्चिम में, जहाँ सिन्धु नदी सागर से मिलती है, नारायण सरस नामक एक महान् तीर्थस्थान है। वहाँ पर अनेक मुनि तथा आध्यात्मिक चेतना में उन्नत अन्य लोग रहते हैं।

तदुपस्पर्शनादेव विनिर्धूतमलाशयाः ।
धर्मे पारमहंस्ये च प्रोत्पन्नमतयोऽप्युत ॥ ४ ॥
तेपिरे तप एवोग्रं पित्रादेशेन यन्त्रिताः ।
प्रजाविवृद्धये यत्तान्देवर्षिस्तान्दर्श ह ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

तत्—उस तीर्थस्थान का; उपस्पर्शनात्—उस जल में स्नान करने से या इसे छूने से; एव—केवल; विनिर्धूत—पूर्णतया धुल गये; मल-आशयाः—जिनकी अशुद्ध इच्छाएँ; धर्मे—अभ्यासों को; पारमहंस्ये—सर्वोच्च संन्यासियों द्वारा सम्पन्न; च—भी; प्रोत्पन्न—अत्यधिक उन्मुख; मतयः—जिनके मन; अपि उत—यद्यपि; तेपिरे—उन्होंने किया; तपः—तपस्या; एव—निश्चय ही; अग्रम्—कठिन; पितृ-आदेशेन—अपने पिता के आदेश से; यन्त्रिताः—लगाये गये; प्रजा-विवृद्धये—जनसंख्या बढ़ाने के उद्देश्य से; यत्तान्—तैयार; देवर्षिः—नारद ऋषि; तान्—उनको; ददर्श—देखा; ह—निस्सन्देह।

उस तीर्थस्थान में हर्यश्वगण नियमित रूप से नदी का जल स्पर्श करने और उसमें स्नान करने लगे। धीरे धीरे अत्यधिक शुद्ध हो जाने पर वे परमहंसों के कार्यों के प्रति उन्मुख हो गये। फिर भी चूँकि उनके पिता ने उन्हें जनसंख्या बढ़ाने का आदेश दिया था, अतः पिता की इच्छापूर्ति के लिए उन्होंने कठिन तपस्या की। एक दिन जब महर्षि नारद ने इन बालकों को जनसंख्या बढ़ाने के लिए ऐसी उत्तम तपस्या करते देखा तो वे उनके निकट आये।

उवाच चाथ हर्यश्वाः कथं स्रक्ष्यथ वै प्रजाः ।
अदृष्टान्तं भुवो यूयं बालिशा बत पालकाः ॥ ६ ॥
तथैकपुरुषं राष्ट्रं बिलं चादृष्टनिर्गमम् ।

बहुरूपां स्त्रियं चापि पुमांसं पुंश्रुलीपतिम् ॥ ७ ॥

नदीमुभयतो वाहां पञ्चपञ्चाद्भुतं गृहम् ।

क्वचिद्धंसं चित्रकथं क्षौरपव्यं स्वयं भ्रमि ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

उवाच—उसने कहा; च—भी; अथ—इस प्रकार; हर्यश्वाः—हे हर्यश्वो, प्रजापति दक्ष के पुत्रो; कथम्—क्यों; स्रक्ष्यथ—उत्पन्न करोगे; वै—निस्सन्देह; प्रजाः—सन्तानें; अदृष्टा—बिना देखे; अन्तम्—अन्त; भुवः—इस पृथ्वी का; यूयम्—तुम सभी; बालिशाः—अनुभवहीन; बत—हाय; पालकाः—यद्यपि शासन चलाने वाले राजकुमार; तथा—उसी तरह भी; एक—एक; पुरुषम्—मनुष्य; राष्ट्रम्—राज्य; बिलम्—छेद; च—भी; अदृष्ट-निर्गमम्—जिससे कोई बाहर नहीं आ रहा; बहु-रूपाम्—अनेक रूप धारण करते हुए; स्त्रियम्—स्त्री को; च—तथा; अपि—भी; पुमांसम्—मनुष्य को; पुंश्रुली-पतिम्—वेश्या का पति; नदीम्—नदी को; उभयतः—दोनों ओर से; वाहाम्—बहती है; पञ्च-पञ्च—पाँच गुणित पाँच (पच्चीस); अद्भुतम्—आश्चर्य; गृहम्—घर; क्वचित्—कहीं पर; हंसम्—हंस; चित्र-कथम्—जिसकी कथा विचित्र है; क्षौर-पव्यम्—तेज छूरों तथा बज्रों से बना; स्वयम्—स्वयं; भ्रमि—घूमने वाला।

महामुनि नारद ने कहा : हे हर्यश्वो! तुमने पृथ्वी के छोरों को नहीं देखा है। एक ऐसा राज्य है, जिसमें केवल एक व्यक्ति रहता है और उसमें जहाँ पर एक छेद है, उसमें से भीतर घुसने वाला कभी निकल कर बाहर नहीं आता। वहाँ पर एक स्त्री है, जो अत्यन्त कुमार्गिनी (असाध्वी) है और वह नाना प्रकार के आकर्षक वस्त्रों से अपने को सुसज्जित करती है और वहाँ जो पुरुष रहता है, वह उसका पति है। उस राज्य में एक नदी है, जो दोनों दिशाओं में बहती है, पच्चीस पदार्थों से बना हुआ एक अद्भुत घर है, एक हंस है, जो नाना प्रकार की ध्वनियाँ करता है और एक स्वतः घूमने वाली वस्तु है, जो तेज छूरों तथा बज्रों से बनी है। तुम लोगों ने इन सबों को नहीं देखा इसलिए तुम लोग उच्च ज्ञान से रहित अनुभवहीन बालक हो। तो फिर तुम किस तरह सन्तान उत्पन्न करोगे?

तात्पर्य : नारद मुनि ने देखा कि हर्यश्व नामक बालक पहले से शुद्ध हो चुके थे, क्योंकि वे तीर्थस्थान में रह रहे थे और वे एक तरह से मुक्ति पाने ही वाले थे। तो फिर उन्हें उस गृहस्थ जीवन में बँधने के लिए क्यों प्रोत्साहित किया जाये जो इतना अंधकारमय है कि एक बार प्रवेश करने पर इसे छोड़ा नहीं जा सकता? इस रूपक के माध्यम से नारद मुनि ने उन्हें इस पर विचार करने के लिए कहा कि गृहस्थ-जीवन में बँधने के लिए उन्हें अपने पिता के आदेश का पालन क्यों करना चाहिए। परोक्ष में नारद मुनि ने उनसे अपने हृदयों के भीतर परमात्मा या भगवान् विष्णु की

स्थिति ढूँढने के लिए कहा, क्योंकि तभी वे सही अर्थ में अनुभवी होंगे। दूसरे शब्दों में, जो व्यक्ति इस भौतिक परिवेश में बुरी तरह लिप्त है और अपने हृदय के भीतर नहीं झाँकता वह अधिकाधिक माया में बद्ध होता है। नारद मुनि का उद्देश्य प्रजापति दक्ष के पुत्रों का ध्यान सामान्य किन्तु प्रजनन के जटिल मामलों में न उलझाकर आध्यात्मिक साक्षात्कार की ओर मोड़ना था। ऐसी ही सलाह प्रह्लाद महाराज ने अपने पिता को दी थी (भागवत ७.५.५)—

तत्साधु मन्येऽसुरवर्यदेहिनां सदा समुद्विग्नधियामसद्ग्रहात् ।

हित्वात्मपातं गृहमन्धकूपं वनं गतो यद्धरिमाश्रयेता ॥

गृहस्थ-जीवन के अंधकारपूर्ण कुँ में मनुष्य सदैव चिन्ताओं से भरा रहता है, क्योंकि वह नश्वर शरीर धारण किये रहता है। यदि मनुष्य अपने को इस चिन्ता से मुक्त करना चाहता है, तो उसे तुरन्त गृहस्थ जीवन त्याग कर वृन्दावन में भगवान् की शरण ग्रहण करनी चाहिए। नारदमुनि ने हर्यश्चों को गृहस्थ-जीवन में प्रवेश न करने की सलाह दी। चूँकि वे पहले से आध्यात्मिक ज्ञान में बढ़े-चढ़े थे तो फिर वे इस तरह क्यों बद्ध हो ?

कथं स्वपितुरादेशमविद्वांसो विपश्चितः ।

अनुरूपमविज्ञाय अहो सर्गं करिष्यथ ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

कथम्—किस तरह; स्व-पितुः—अपने पिता का; आदेशम्—आदेश; अविद्वांसः—अज्ञान; विपश्चितः—प्रत्येक बात जानने वाला; अनुरूपम्—तुम्हारे अनुरूप; अविज्ञाय—बिना जाने; अहो—हाय; सर्गम्—सृष्टि; करिष्यथ—तुम करोगे।

हाय! तुम्हारा पिता तो सर्वज्ञ है, किन्तु तुम उनके असली आदेश को नहीं जानते। अपने

पिता के असली उद्देश्य को जाने बिना तुम किस तरह सन्तान उत्पन्न करोगे ?

श्रीशुक उवाच

तन्निशम्याथ हर्यश्चा औत्पत्तिकमनीषया ।

वाचः कूटं तु देवर्षेः स्वयं विममृशुर्धिया ॥ १० ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; तत्—वह; निशम्य—सुनकर; अथ—इसके बाद; हर्यश्वाः—प्रजापति दक्ष के सारे पुत्र; औत्पत्तिक—स्वभावतः जाग्रत; मनीषया—विचार करने की शक्ति होने से; वाचः—वाणी का; कूटम्—आसानी से समझ में न आने वाली बात; तु—लेकिन; देवर्षेः—नारद मुनि की; स्वयम्—स्वयं; विममृशुः—विचार किया; धिया—पूरी बुद्धि से।

श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा : नारदमुनि के गूढ़ शब्दों को सुनकर हर्यश्वों ने अपनी स्वाभाविक बुद्धि से दूसरों से सहायता लिये बिना विचार किया।

भूः क्षेत्रं जीवसंज्ञं यदनादि निजबन्धनम् ।

अदृष्ट्वा तस्य निर्वाणं किमसत्कर्मभिर्भवेत् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

भूः—पृथ्वी; क्षेत्रम्—कार्यक्षेत्र; जीव-संज्ञम्—कर्म के विभिन्न फलों से बँधने की आध्यात्मिक जीव की उपाधि; यत्—जो; अनादि—अनादि काल से विद्यमान; निज-बन्धनम्—अपना ही बन्धन उत्पन्न करके; अदृष्ट्वा—देखे बिना; तस्य—इसका; निर्वाणम्—अन्त; किम्—क्या लाभ; असत्-कर्मभिः—क्षणिक सकाम कर्मों से; भवेत्—हो सकता है।

[हर्यश्वों ने नारद के शब्दों का अर्थ इस प्रकार समझा] भूः शब्द कर्मक्षेत्र का द्योतक है।

यह भौतिक शरीर जो मनुष्य के कर्मों का फल होता है, उसका कर्मक्षेत्र है और यह उसे झूठी उपाधियाँ देता है। अनादि काल से मनुष्य को विविध प्रकार के भौतिक शरीर प्राप्त होते रहे हैं, जो भौतिक जगत से बन्धन के मूल हैं। यदि कोई मनुष्य मूर्खतावश क्षणिक सकाम कर्मों में अपने को लगाता है और इस बन्धन को समाप्त करने की ओर नहीं देखता तो उसको कर्मों का क्या लाभ मिलेगा?

तात्पर्य : नारद मुनि ने प्रजापति दक्ष के पुत्र हर्यश्वों से रूपक शैली में दस विषयों की चर्चा की—राजा, राज्य, नदी, घर, भौतिक तत्त्व इत्यादि। इन सबों पर स्वयं विचार करने के बाद हर्यश्व यह समझ सके कि जीव अपने शरीर में बन्दी बनकर सुख ढूँढता है, किन्तु वह इसमें रुचि नहीं लेता कि इस बन्धन से किस तरह मुक्त हुआ जाये? यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण श्लोक हैं, क्योंकि भौतिक जगत में सारे जीव विशेष प्रकार का शरीर प्राप्त करने से अत्यन्त सक्रिय हैं। मनुष्य इन्द्रिय-तृप्ति के लिए रात दिन काम करता है और शूकर तथा कूकर जैसे पशु भी इन्द्रियतृप्ति हेतु दिनरात कार्य करते हैं। पक्षी, पशु तथा अन्य सारे बद्धजीव शरीर के भीतर बन्दी आत्मा को जाने

बिना विविध कार्यों में लगे रहते हैं। विशेषतया मनुष्य शरीर पाकर उसका कर्तव्य हो जाता है कि वह इस तरह कर्म करे कि वह अपने को इस बन्धन से छुड़ा सके। किन्तु नारद या उनकी परम्परा के उनके प्रतिनिधि के उपदेशों के बिना लोग मायासुख भोगने के लिए अन्धाधुन्ध शारीरिक कार्यों में लगे रहते हैं। वे यह नहीं जानते कि अपने भौतिक बन्धन से किस तरह मुक्त हुआ जाये। इसलिए ऋषभदेव ने कहा कि ऐसा कर्म तनिक भी उत्तम नहीं, क्योंकि यह आत्मा को बारम्बार शरीर के बन्धन में डालता है, जो तीन प्रकार के तापों के अधीन है।

प्रजापति दक्ष के पुत्र हर्यश्च तुरन्त ही नारद के उपदेशों का तात्पर्य समझ गये। हमारा कृष्णभावनामृत आन्दोलन विशेषतया ऐसे ही प्रबोधन के लिए है। हम लोग मानवता को प्रबुद्ध बनाने का प्रयत्न कर रहे हैं जिससे लोगों को यह ज्ञान हो कि उन्हें आत्म-साक्षात्कार तथा एक शरीर से दूसरे शरीर में जन्म, मृत्यु, जरा तथा रोग के निरन्तर बन्धन से मुक्ति के लिए तपस्या करनी चाहिए। किन्तु माया अत्यन्त प्रबल है, वह इस ज्ञान के मार्ग में रोड़े अटकाने में दक्ष है। इसलिए कभी-कभी मनुष्य कृष्णभावनामृत आन्दोलन में जुड़ जाता है, किन्तु इस आन्दोलन के महत्त्व को न समझने से वह पुनः माया के चंगुल में फँस जाता है।

एक एवेश्वरस्तुर्यो भगवान्स्वाश्रयः परः ।

तमदृष्ट्वाभवं पुंसः किमसत्कर्मभिर्भवेत् ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

एकः—एक; एव—निस्सन्देह; ईश्वरः—परम नियन्ता; तुर्यः—चतुर्थ दिव्य अवस्था, तुरीय; भगवान्—भगवान्; स्व-आश्रयः—स्वतंत्र, अपना ही आश्रय होने से; परः—इस भौतिक सृष्टि के परे; तम्—उसको; अदृष्ट्वा—बिना देखे; अभवम्—जो उत्पन्न नहीं हुआ; पुंसः—मनुष्य का; किम्—क्या लाभ; असत्-कर्मभिः—क्षणिक सकाम कर्मों से; भवेत्—हो सकता है।

[नारद मुनि ने कहा था कि एक ऐसा राज्य है जहाँ केवल एक नर है। हर्यश्चों को इस कथन के आशय की अनुभूति हुई] एकमात्र भोक्ता भगवान् हैं, जो हर वस्तु को हर जगह देखते हैं। वे षड्ऐश्वर्यों से पूर्ण हैं और अन्य सबों से पूर्णतया स्वतंत्र हैं। वे कभी भी भौतिक प्रकृति के तीन गुणों से प्रभावित नहीं होते, क्योंकि वे सदा से इस भौतिक सृष्टि से परे रहे

हैं। यदि मानव-समाज के सदस्य ज्ञान तथा कर्मों की प्रगति के माध्यम से उन परम पुरुष को नहीं समझते बल्कि क्षणिक सुख के लिए रात-दिन कुत्ते-बिल्लियों की तरह अत्यधिक कठोर श्रम करते हैं, तो उनके कार्यों से क्या लाभ?

तात्पर्य : नारद मुनि ने ऐसे राज्य का उल्लेख किया था जहाँ केवल एक राजा है, जिसका प्रतियोगी कोई नहीं है। सम्पूर्ण आध्यात्मिक जगत में तथा विराट जगत में विशेषरूप से केवल एक स्वामी या भोक्ता—भगवान् है, जो इस भौतिक जगत से परे है। इसलिए भगवान् को *तुर्य* अर्थात् चतुर्थ अवस्था में स्थित कहा गया है। उन्हें *अभव* भी कहा गया है। *भव* शब्द भू से निकला है, जिसका अर्थ “जन्म” होता है। जैसा कि *भगवद्गीता* (८.१९) में कहा गया है—*भूत्वा भूत्वा प्रलीयते*—इस भौतिक जगत में जीवों को बारम्बार जन्म लेना और विनष्ट होना पड़ता है। किन्तु भगवान् न तो *भूत्वा* हैं न *प्रलीयते*। वे शाश्वत हैं। दूसरे शब्दों में, वे उन मनुष्यों या पशुओं की तरह जन्म लेने के लिए बाध्य नहीं हैं, जो आत्मा को न जानने के कारण बारम्बार जन्म लेते तथा मरते हैं। भगवान् कृष्ण में ऐसे शरीर-परिवर्तन नहीं होते और जो अन्यथा सोचता है, वह मूर्ख माना जाता है (*अवजानन्ति मां मानुषीं मूढा तनुमाश्रितम्*)। नारद मुनि यह सलाह देते हैं कि मनुष्य बिल्लियों तथा बन्दरों की तरह उछल-कूद में असली लाभ के बिना अपना समय व्यर्थ न गँवाये। मनुष्य का कर्तव्य है कि भगवान् को समझे।

पुमान्नैवैति यद्गत्वा बिलस्वर्गं गतो यथा ।

प्रत्यग्धामाविद इह किमसत्कर्मभिर्भवेत् ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

पुमान्—मनुष्य; न—नहीं; एव—निस्सन्देह; एति—वापस आता है; यत्—जिस तक; गत्वा—जाकर; बिल-स्वर्गम्—पाताल तक; गतः—गया हुआ; यथा—जिस तरह; प्रत्यक्-धाम—तेजोमय आध्यात्मिक जगत; अविदः—अज्ञानी मनुष्य का; इह—इस भौतिक जगत में; किम्—क्या लाभ; असत्-कर्मभिः—नश्वर सकाम कर्म से; भवेत्—हो सकता है।

[नारद मुनि ने कहा था कि एक बिल या छेद है, जिसमें प्रवेश करने के बाद कोई लौटता नहीं। हर्यश्च इस रूपक का अर्थ समझ गये।] एक बार जो व्यक्ति पाताल नामक

निम्नतर लोकों में प्रवेश करता है, वह मुश्किल से लौटता देखा जाता है। इसी तरह यदि कोई वैकुण्ठ धाम (प्रत्यग् धाम) में प्रवेश करता है, तो वह इस भौतिक जगत में लौटकर नहीं आता। यदि कोई ऐसा स्थान है जहाँ जाकर मनुष्य इस दुखमय भौतिक जीवन में नहीं लौटता तो फिर नश्वर भौतिक जगत में बन्दरों की तरह उछलने-कूदने एवं उस स्थान को न देखने या समझने से क्या लाभ? इससे क्या लाभ होगा?

तात्पर्य : जैसा कि भगवद्गीता (१५.६) में कहा गया है—*यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम*—एक ऐसा क्षेत्र है जहाँ जाकर कोई इस भौतिक जगत में वापस नहीं आता। इस क्षेत्र का बारम्बार वर्णन हुआ है। भगवद्गीता में अन्यत्र (४.९) कृष्ण कहते हैं—

जन्मकर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः ।

त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥

“हे अर्जुन! जो मेरे आविर्भाव तथा कर्मों की दिव्य प्रकृति को जानता है, वह इस शरीर को छोड़ने पर इस संसार में पुनः जन्म नहीं लेता, अपितु मेरे सनातन धाम को प्राप्त होता है।”

यदि कोई व्यक्ति कृष्ण को, जिनका परमेश्वर के रूप में वर्णन किया जा चुका है, ठीक से समझ जाता है, तो वह अपना भौतिक शरीर त्यागने के बाद लौटकर यहाँ नहीं आता। इसी तथ्य को श्रीमद्भागवत के इस श्लोक में बतलाया गया है। *पुमान् नैवैति यद् गत्वा*—वह इस भौतिक जगत में लौटकर नहीं आता, अपितु ज्ञान का शाश्वत आनन्दमय जीवन बिताने के लिए भगवद्धाम लौट जाता है। लोग इसकी परवाह क्यों नहीं करते? इस भौतिक जगत में कभी मनुष्य के रूप में, कभी देवता के रूप में और कभी कुत्ते या बिल्ली के रूप में पुनः जन्म लेने से क्या लाभ मिलेगा? इस तरह से समय व्यर्थ गँवाने से क्या लाभ? कृष्ण ने भगवद्गीता (८.१५) में अत्यन्त बलपूर्वक कहा है—

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् ।

नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ॥

“मुझे प्राप्त करके महापुरुष, जो भक्तियोगी हैं, कभी भी दुखों से पूर्ण इस अनित्य जगत में नहीं लौटते, क्योंकि उन्हें परम सिद्धि प्राप्त हो चुकी होती है।” मनुष्य को असली चिन्ता अपने को जन्म-मृत्यु के पिष्टपेषण से मुक्त करने तथा आध्यात्मिक जगत में परमेश्वर के साथ रहकर जीवन की सर्वोच्च सिद्धि प्राप्त करने की होनी चाहिए। इन श्लोकों में दक्ष के पुत्र बारम्बार कहते हैं—*किम् असत्कर्मभिर्भवेत्*—अस्थायी सकाम कर्मों का क्या लाभ है”

नानारूपात्मनो बुद्धिः स्वैरिणीव गुणान्विता ।
तन्निष्ठामगतस्येह किमसत्कर्मभिर्भवेत् ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

नाना—विविध; रूपा—रूप या वेश वाले; आत्मनः—जीव की; बुद्धिः—बुद्धि; स्वैरिणी—वेश्या जो स्वतंत्र रूप से नाना प्रकार के वस्त्रों तथा गहनों से अपने को सजाती है; इव—सदृश; गुण-अन्विता—रजोगुण इत्यादि से समन्वित; तत्-निष्ठाम्—उसका अन्त; अगतस्य—जिसने नहीं प्राप्त किया है उसका; इह—इस भौतिक जगत में; किम् असत्-कर्मभिः भवेत्—नश्वर सकाम कर्म करने से क्या लाभ।

[नारद मुनि ने एक स्त्री का वर्णन किया था, जो पेशेवर वेश्या है। हर्यश्वों को इस स्त्री की पहचान समझ में आ गई] रजोगुण से मिश्रित हुई प्रत्येक जीव की अस्थिर बुद्धि उस वेश्या के समान है, जो किसी के ध्यान को आकृष्ट करने के लिए अपने वस्त्र बदलती रहती है। यदि कोई मनुष्य यह जाने बिना कि यह किस तरह हो रहा है, पूरी तरह क्षणभंगुर सकाम कर्मों में लगा रहता है, तो उसे वास्तव में क्या लाभ मिलता है?

तात्पर्य : जिस स्त्री का पति नहीं होता वह अपने को स्वतंत्र घोषित कर देती है, जिसका अर्थ है कि वह वेश्या बन जाती है। वेश्या सामान्यतया अपने शरीर के अधोभाग के प्रति मनुष्य का ध्यान आकृष्ट करने के उद्देश्य से नाना प्रकार के वस्त्र धारण करती है। आजकल स्त्री के लिए नग्नप्राय घूमने, अपने शरीर के अधोभाग को किञ्चित् ही ढकने का अत्यधिक विज्ञापित फैशन इसलिए चल पड़ा है, जिससे मनुष्य का ध्यान यौन सुख के लिए उसके गुप्त अंगों की ओर खिंचे। अपने शरीर के अधोभाग की ओर मनुष्य को आकृष्ट करने में लगाई जाने वाली बुद्धि एक पेशेवर वेश्या की बुद्धि होती है। इसी तरह जो व्यक्ति कृष्ण के या कृष्णभावनामृत आन्दोलन के प्रति

अपना ध्यान नहीं मोड़ता, उस जीव की बुद्धि वेश्या की ही तरह केवल वस्त्र बदलती है। ऐसी मूर्खतापूर्ण बुद्धि से क्या लाभ? मनुष्य को बुद्धिपूर्वक इस तरह से सचेत होना चाहिए कि उसे एक शरीर से दूसरे शरीर में बदलाव न करना पड़े।

कर्मिजन किसी भी क्षण अपने पेशे बदल देते हैं, किन्तु कृष्णभावनाभावित व्यक्ति अपना पेशा नहीं बदलता, क्योंकि उसका एकमात्र पेशा हरे कृष्ण मंत्र के कीर्तन द्वारा कृष्ण का ध्यान आकृष्ट करना तथा नित्य फैशन न बदलकर अत्यन्त सादा जीवन बिताना है। हमारे कृष्णभावनामृत आन्दोलन में फैशनपरस्त लोगों को एक ही फैशन—सिर मुड़ाये तथा तिलक धारण किये वैष्णव वेश—अपनाने की शिक्षा दी जाती है। उन्हें मन, वस्त्र तथा भोजन में सदैव स्वच्छ रहने की शिक्षा दी जाती है, जिससे वे कृष्णभावनामृत में स्थिर हो सकें। अपने वस्त्र को बदलते रहने से, कभी लम्बे बाल तथा लम्बी दाढ़ी रखने से, तो कभी अन्य प्रकार से वेश धारण करने से क्या लाभ? यह अच्छी बात नहीं है। मनुष्य को ऐसे फालतू कार्यों में समय नहीं गँवाना चाहिए। उसे सदैव कृष्णभावनामृत में स्थिर रहना चाहिए तथा दृढसंकल्प के साथ भक्ति-रूप उपचार का सेवन करना चाहिए।

तत्सङ्गभ्रंशितैश्वर्यं संसरन्तं कुभार्यवत् ।

तद्गतीरबुधस्येह किमसत्कर्मभिर्भवेत् ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

तत्-सङ्ग—बुद्धिरूपी वेश्या की संगति से; भ्रंशित—हरी गई; ऐश्वर्यम्—स्वतंत्रता का ऐश्वर्य; संसरन्तम्—भौतिक जीवन-शैली बिताते हुए; कु-भार्य-वत्—उस व्यक्ति की तरह जिसकी पत्नी दूषित है; तत्-गतीः—दूषित बुद्धि की हरकतें; अबुधस्य—न जानने वाले की; इह—इस जगत में; किम् असत्-कर्मभिः भवेत्—क्षणिक सकाम कर्मों के करने से क्या लाभ हो सकता है?

[नारद मुनि ने एक ऐसे मनुष्य की भी बात कही थी जो वेश्या का पति है। हर्यश्रों ने इसे इस प्रकार समझा] यदि कोई पुरुष किसी वेश्या का पति बनता है, तो वह अपनी सारी स्वतंत्रता खो देता है। इसी तरह यदि जीव की बुद्धि दूषित है, तो वह अपने भौतिकतावादी जीवन को बढ़ा लेता है। भौतिक प्रकृति से निराश होकर उसे बुद्धि की गतियों का अनुसरण

करना पड़ता है, जो सुख तथा दुख की विविध स्थितियों को लाती हैं। यदि कोई ऐसी स्थितियों में सकाम कर्म करता है, तो इससे क्या लाभ होगा ?

तात्पर्य : दूषित बुद्धि की उपमा वेश्या से दी गई है। जिसने अपनी बुद्धि को शुद्ध नहीं बनाया है, वह उस वेश्या के द्वारा नियंत्रित कहा जाता है। जैसा कि *भगवद्गीता* (२.४१) में कहा गया है—*व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन*—जो लोग वास्तव में गम्भीर हैं, वे एक प्रकार की बुद्धि द्वारा चालित होते हैं और वह है कृष्णभावनामृत की बुद्धि। *बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्*—जो उचित बुद्धि में स्थिर नहीं हैं, वह जीवन के अनेक गुणों की खोज कर लेता है। इस तरह भौतिक कार्यों में लगा होने से वह प्रकृति के विभिन्न गुणों के सम्पर्क में आता है और तरह-तरह के तथाकथित सुख तथा दुख पाता है। यदि कोई पुरुष किसी वेश्या का पति बनता है, तो वह सुखी नहीं हो सकता। इसी तरह जो व्यक्ति भौतिक बुद्धि तथा भौतिक चेतना के आदेशों का पालन करता है, वह कभी भी सुखी नहीं होगा।

मनुष्य को सही ढंग से प्रकृति के कार्यों को समझना चाहिए। जैसा कि *भगवद्गीता* (३.२७) में कहा गया है—

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।

अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥

“जीवात्मा भौतिक प्रकृति के तीन गुणों के अन्तर्गत अहंकार के प्रभाव से मोहग्रस्त होकर अपने आपको समस्त कार्यों का कर्ता मान बैठता है, जबकि वास्तव में वे प्रकृति के तीनों गुणों के द्वारा सम्पन्न किये जाते हैं।” यद्यपि मनुष्य प्रकृति के आदेशों का पालन करता होता है, किन्तु वह प्रसन्नतापूर्वक अपने को प्रकृति का स्वामी या पति मानता है। उदाहरणार्थ, विज्ञानीजन जन्म-जन्मांतर भौतिक प्रकृति का स्वामी बनने का प्रयास करते हैं और उस परम पुरुष को समझने की परवाह नहीं करते जिनके निर्देशानुसार इस भौतिक जगत की सारी वस्तुएँ गतिशील हैं। भौतिक प्रकृति के स्वामी बनने के प्रयास में वे नकली देवताओं की तरह हैं, जो जनता में यह घोषित करते

हैं कि एक दिन वैज्ञानिक प्रगति ईश्वर के तथाकथित नियंत्रण को रोकने में समर्थ हो जायेगी। किन्तु वास्तव में जीव ईश्वर के विधानों को नियंत्रित करने में असमर्थ रहता है और वह दूषित बुद्धि रूपी वेश्या की संगति करने तथा विविध भौतिक शरीर स्वीकार करने के लिए बाध्य किया जाता है। जैसा कि *भगवद्गीता* (१३.२२) में कहा गया है—

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान् ।

कारणं गुणसंगोऽस्य सदसदयोनिजन्मसु ॥

“इस प्रकार जीव प्रकृति के तीनों गुणों का भोग करता हुआ प्रकृति का ही अनुसरण करता है। यह उस प्रकृति के साथ उसकी संगति के कारण है। इस तरह उसे विभिन्न योनियों में अच्छे तथा बुरे का सामना करता पड़ता है।” यदि कोई व्यक्ति क्षणिक सकाम कर्मों में पूरी तरह लगा रहता है और इस असली समस्या को हल नहीं करता तो उसे क्या लाभ मिलेगा ?

सृष्ट्यप्ययकरीं मायां वेलाकूलान्तवेगिताम् ।

मत्तस्य तामविज्ञस्य किमसत्कर्मभिर्भवेत् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

सृष्टि—सृष्टि; अप्यय—प्रलय; करीम्—करने वाली; मायाम्—मोहिनी शक्ति; वेला-कूल-अन्त—किनारे के निकट; वेगिताम्—अत्यन्त तेज होने से; मत्तस्य—उम्मत का; ताम्—उस भौतिक प्रकृति को; अविज्ञस्य—न जानने वाला; किम् असत्-कर्मभिः भवेत्—क्षणिक सकाम कर्म करने से क्या लाभ हो सकता है।

[नारद मुनि ने कहा था कि एक नदी है, जो दोनों दिशाओं में बहती है। हर्यश्चो ने इस कथन का तात्पर्य समझा] भौतिक प्रकृति दो प्रकार से कार्य करती है—सृजन द्वारा तथा संहार द्वारा। इस तरह भौतिक प्रकृति-रूपी नदी दोनों दिशाओं में बहती है। जो जीव अनजाने में इस नदी में गिर जाता है, वह इसकी लहरों में डूबता-उतराता जाता है और चूँकि नदी के किनारों के निकट धारा अधिक तेज रहती है, इसलिए वह बाहर निकल पाने में असमर्थ रहता है। माया-रूपी उस नदी में सकाम कर्म करने से क्या लाभ होगा ?

तात्पर्य : मनुष्य माया-रूपी नदी की लहरों में डूबता-उतराता रह सकता है, किन्तु वह ज्ञान

तथा तपस्या के तटों पर आकर इन लहरों से बाहर भी निकल सकता है। किन्तु इन किनारों के निकट लहरें बड़ी प्रबल रहती हैं, अतः यदि वह यह नहीं समझता है कि वह लहरों द्वारा कैसे इधर उधर फैंका जा रहा है और वह क्षणिक सकाम कर्मों में लगा रहे तो उसे क्या लाभ मिलेगा ?

ब्रह्म-संहिता (५.४४) में एक कथन है—

सृष्टि स्थिति प्रलयसाधनशक्तिरेका

छायेव यस्य भुवनानि बिभर्ति दुर्गा ।

माया शक्ति, दुर्गा, सृष्टि-स्थिति-प्रलय का कार्यभार सँभालती है और वह भगवान् के निर्देशन में कार्य करती है (मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्)। जब मनुष्य अविद्या की नदी में गिर जाता है, तो वह लहरों द्वारा इधर-उधर उछाला जाता है, किन्तु वही माया उसे बचा भी सकती है, यदि वह कृष्ण की शरण में जाता है या कृष्णभावनाभावित बन जाता है। कृष्णभावनामृत ज्ञान तथा तपस्या है। कृष्णभावनाभावित व्यक्ति वैदिक वाङ्मय से ज्ञान ग्रहण करता है, किन्तु साथ ही साथ उसे तपस्या करनी चाहिए।

भौतिक जीवन से छुटकारा पाने के लिए मनुष्य को कृष्णभावनामृत ग्रहण करना चाहिए। अन्यथा, यदि वह तथाकथित विज्ञान की प्रगति में बुरी तरह लगा रहेगा तो उसे कौन सा लाभ प्राप्त होगा ? यदि वह प्रकृति की लहरों द्वारा बहा ले जाया जाता है, तो महान् विज्ञानी या दार्शनिक होने का क्या अर्थ ? संसारी विज्ञान तथा दर्शन भी भौतिक सृष्टियाँ हैं। मनुष्य को समझना चाहिए कि माया किस तरह कार्य करती है और मनुष्य किस तरह अविद्या-रूपी नदी की उफनती लहरों से छुड़ाया जा सकता है। यह उसका प्रथम कर्तव्य है।

पञ्चविंशतितत्त्वानां पुरुषोऽद्भुतदर्पणः ।

अध्यात्ममबुधस्येह किमसत्कर्मभिर्भवेत् ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

पञ्च-विंशति—पच्चीस; तत्त्वानाम्—तत्त्वों में से; पुरुषः—भगवान्; अद्भुत-दर्पणः—अद्भुत का प्रकट कर्ता; अध्यात्मम्—समस्त कार्यो तथा कारणों का द्रष्टा; अबुधस्य—न जानने वाले का; इह—इस संसार में; किम् असत्-कर्मभिः भवेत्—क्षणभंगुर सकाम कार्यो में लगे रहने से क्या लाभ हो सकता है ?

[नारद मुनि ने कहा था कि पच्चीस तत्त्वों से बना हुआ एक घर है। हर्यश्वों को यह रूपक समझ में आ गया] भगवान् पच्चीस तत्त्वों के आगार हैं और परम पुरुष होने के कारण कार्य-कारण के संचालक रूप में वे उनकी अभिव्यक्ति करते हैं। यदि कोई व्यक्ति क्षणभंगुर सकाम कर्मों में अपने को लगाता है और उस परम पुरुष को नहीं जानता तो उसे क्या लाभ प्राप्त होगा ?

तात्पर्य : दार्शनिक तथा विज्ञानी आदि कारण खोजने के लिए पांडित्यपूर्ण शोध करते हैं, किन्तु उन्हें वैज्ञानिक ढंग से ऐसा करना चाहिए, किसी सनक में आकर नहीं, न ही विचित्र सिद्धान्तों के माध्यम से ऐसा करना चाहिए। आदि कारण के विज्ञान की व्याख्या विविध वैदिक ग्रन्थों में ही हुई है। अथातो ब्रह्मजिज्ञासा । जन्माद्यस्य यतः । वेदान्त सूत्र बताता है कि मनुष्य को परमात्मा विषयक पूछताछ करनी चाहिए। ब्रह्म विषयक ऐसी पूछताछ ब्रह्म जिज्ञासा कहलाती है। श्रीमद्भागवत (१.२.११) में परम सत्य या तत्त्व की व्याख्या की गई है—

वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम् ।

ब्रह्मेति परमात्मेति भगवान् इति शब्दते ॥

“परम सत्य को जानने वाले विद्वान अध्यात्मवादी इस अद्वैत तत्त्व को ब्रह्म, परमात्मा या भगवान् कहकर पुकारते हैं।” नवदीक्षितों को परम सत्य निर्विशेष ब्रह्म के रूप में प्रतीत होते हैं और बड़े-चढ़े योगियों को परमात्मा रूप में। किन्तु भक्तजन जो कि उनसे भी बड़े-चढ़े होते हैं परमात्मा को भगवान् विष्णु के रूप में समझते हैं।

यह भौतिक विराट जगत् भगवान् कृष्ण या विष्णु की शक्ति का विस्तार है।

एकदेश स्थितस्याग्नेर्ज्योत्स्ना विस्तारिणी यथा ।

परस्य ब्रह्मणः शक्तिस्तथेदमखिलं जगत् ॥

“इस जगत में हम जो भी देखते हैं वह उन भगवान् की विविध शक्तियों का केवल विस्तार है, जो उस अग्नि की तरह हैं, जो एक स्थान में स्थित होते हुए भी दूर-दूर तक अपना प्रकाश फैलाती है।” (विष्णु पुराण)। सम्पूर्ण विराट जगत भगवान् का विस्तार है। इसलिए यदि परम कारण को खोजने के लिए कोई व्यक्ति शोधकार्य न करके ओछे नश्वर कार्यों में झूठे ही अपने को लगाता है, तो फिर महत्त्वपूर्ण विज्ञानी या दार्शनिक के रूप में मान्यता की माँग करने से क्या लाभ? यदि वह परम कारण को नहीं जानता तो उसके वैज्ञानिक तथा दार्शनिक शोध से क्या लाभ?

पुरुष अर्थात् आदि पुरुष—भगवान् विष्णु—को एकमात्र भक्ति द्वारा समझा जा सकता है। भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः—एकमात्र भक्ति द्वारा उन परम पुरुष को समझा जा सकता है, जो सभी वस्तुओं के पीछे हैं। मनुष्य को यह समझने का प्रयास करना चाहिए कि भौतिक तत्त्व भगवान् की भिन्न कनिष्ठा शक्ति हैं और जीव भगवान् की आध्यात्मिक शक्ति है। हम पदार्थ तथा आत्मा सहित जो भी अनुभव करते हैं वह भगवान् विष्णु की दो शक्तियों, कनिष्ठा (अपरा) शक्ति तथा श्रेष्ठ (परा) शक्ति, का संयोग है। मनुष्य को चाहिए कि सृष्टि, पालन तथा संहार विषयक तथ्यों का तथा उस स्थायी स्थान का, जहाँ से फिर लौटने की आवश्यकता नहीं पड़ती, (यद्गत्वा न निवर्तन्ते) गम्भीरतापूर्वक अध्ययन करे। मानव समाज को इसका अध्ययन करना चाहिए, किन्तु लोग ऐसे ज्ञान का अनुशीलन न करके क्षणिक सुख तथा इन्द्रियतृप्ति के प्रति आकृष्ट होते हैं जिनका अन्त पादहीन शीर्षहीन (बिना सिरपैर वाली) कामवासना में होता है। ऐसे कार्यों से कोई लाभ नहीं है। मनुष्य को कृष्णभावनामृत आन्दोलन में अपने को लगाना चाहिए।

ऐश्वरं शास्त्रमुत्सृज्य बन्धमोक्षानुदर्शनम् ।
विविक्तपदमज्ञाय किमसत्कर्मभिर्भवेत् ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

ऐश्वर्यम्—ईश्वर का ज्ञान या कृष्णभावनामृत लाना; शास्त्रम्—वैदिक साहित्य; उत्सृज्य—त्यागकर; बन्ध—बन्धन का; मोक्ष—तथा मोक्ष का; अनुदर्शनम्—विधियों की जानकारी देना; विविक्त-पदम्—आत्मा को पदार्थ से पृथक् करना; अज्ञाय—न जानते हुए; किम् असत्-कर्मभिः भवेत्—क्षणभंगुर सकाम कर्मों का क्या लाभ हो सकता है।

[नारद मुनि ने हंस की बात की थी। इस श्लोक में हंस की व्याख्या की गई है]। वैदिक ग्रन्थ (शास्त्र) भलीभाँति यह बताते हैं, कि समस्त भौतिक तथा आध्यात्मिक शक्ति के स्रोत भगवान् को किस तरह समझना चाहिए। दरअसल, वे इन दोनों शक्तियों की विस्तार से व्याख्या करते हैं। हंस वह है, जो पदार्थ तथा आत्मा में अन्तर करता है, जो हर वस्तु के सार को ग्रहण करता है और जो बन्धन के तथा मोक्ष के उपायों की व्याख्या करता है। शास्त्रों के शब्द विविध प्रकार की ध्वनियों के रूप में हैं। यदि कोई मूर्ख धूर्त व्यक्ति नश्वर कार्यों में लगने के लिए इन शास्त्रों के अध्ययन को ताक पर रख देता है, तो फिर परिणाम क्या होगा ?

तात्पर्य : कृष्णभावनामृत आन्दोलन वैदिक साहित्य को आधुनिक भाषाओं में, विशेषतया अंग्रेजी, फ्रांसीसी तथा जर्मन जैसी पाश्चात्य भाषाओं में, प्रस्तुत करने के लिए अति उत्सुक है। पाश्चात्य जगत के कर्णधार, अमरीकी तथा यूरोपियन, आधुनिक सभ्यता की प्रतिमाएँ बन चुके हैं, क्योंकि भौतिक सभ्यता की प्रगति के लिए पाश्चात्य लोग अस्थायी कार्यों में अत्यन्त कुशल हैं। किन्तु विवेकवान् व्यक्ति यह देख सकता है कि सारे भव्य कार्य, यद्यपि नश्वर जीवन के लिए कदाचित् अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं, किन्तु शाश्वत जीवन से उन्हें कुछ लेना-देना नहीं रहता। सारा जगत पश्चिम की भौतिकतावादी सभ्यता की नकल कर रहा है, अतएव कृष्णभावनामृत आन्दोलन मूल संस्कृत वैदिक ग्रन्थों का पाश्चात्य भाषाओं में अनुवाद करके पाश्चात्य लोगों को ज्ञान प्रदान करने में अत्यधिक रुचि रखता है।

विविक्त-पदम् शब्द द्योतक है जीवन के लक्ष्य से सम्बन्धित तार्किक प्रवचनों के मार्ग का। यदि जीवन में जो महत्त्वपूर्ण है, उसकी विवेचना नहीं की जाती तो मनुष्य अंधकार में जा गिरता है और जीवन के लिए उसे संघर्ष करना पड़ता है। तो फिर ज्ञान में प्रगति करने से उसे क्या लाभ ?

पश्चिम के लोग अपने छात्रों को हिप्पी बनते देख रहे हैं, यद्यपि विश्वविद्यालयीन् शिक्षा के लिए वहाँ भव्य प्रबन्ध हैं। किन्तु कृष्णभावनामृत आन्दोलन इन गुमराह, नशीली दवाओं के अभ्यस्त छात्रों को कृष्ण की सेवा में लगाकर उन्हें मानव समाज के लिए कल्याण के कार्यों की ओर मोड़ने का प्रयास कर रहा है।

कालचक्रं भ्रमि तीक्ष्णं सर्वं निष्कर्षयज्जगत् ।
स्वतन्त्रमबुधस्येह किमसत्कर्मभिर्भवेत् ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

काल-चक्रम्—नित्यकाल का चक्र; भ्रमि—स्वतः घूमता हुआ; तीक्ष्णम्—अत्यन्त तेज; सर्वम्—समस्त; निष्कर्षयत्—हाँकते हुए; जगत्—संसार; स्व-तन्त्रम्—स्वतंत्र तथाकथित विज्ञानियों तथा दार्शनिकों की परवाह न करते हुए; अबुधस्य—(काल के नियम को) न जानने वाले का; इह—इस भौतिक जगत में; किम् असत्-कर्मभिः भवेत्—क्षणिक सकाम कर्मों में लगने से क्या लाभ।

[नारद मुनि ने तेज छुरों तथा वज्रों से बनी एक भौतिक वस्तु की बात की थी। हर्यश्वों ने इस रूपक को इस प्रकार समझा] नित्य काल बहुत ही तीक्ष्णता से गति करता है, मानो छुरों तथा वज्रों से बना हुआ हो। यह काल अबाध रूप से तथा पूर्णतया स्वतंत्र होकर सारे जगत के कार्यों का संचालन करता है। यदि मनुष्य नित्य काल तत्त्व का अध्ययन करने का प्रयास नहीं करता तो वह क्षणिक भौतिक कार्यों को करने से क्या लाभ प्राप्त कर सकता है ?

तात्पर्य : यह श्लोक क्षौर-पव्यं स्वयं भ्रमि शब्दों की व्याख्या करता है, जो नित्य काल की कक्ष्या का विशेष रूप से द्योतन करने वाले हैं। कहा जाता है कि काल तथा लहरें किसी मनुष्य की प्रतीक्षा नहीं करते। महान् राजनीतिज्ञ चाणक्य पण्डित के नैतिक उपदेशों के अनुसार—

आयुषः क्षण एकोऽपि न लभ्य स्वर्णकोटिभिः ।

न चेन्निरर्थकं नीतिः का च हानिस्ततोऽधिका ॥

करोड़ों डालर देकर भी जीवन का एक क्षण वापस नहीं लिया जा सकता। इसलिए मनुष्य को यह सोचना चाहिए कि यदि वह अपने जीवन का एक क्षण भी व्यर्थ में गँवा देता है, तो कितनी बड़ी क्षति होती है। जीवन के लक्ष्य को न समझते हुए पशु की तरह जीवन बिताते हुए मनुष्य

मूर्खतावश यह सोचता है कि शाश्वतता नाम की कोई वस्तु नहीं है और उसका पचास, साठ या हद से हद सौ वर्षों का जीवन ही सब कुछ है। यह सबसे बड़ी मूर्खता है। काल शाश्वत है और इस भौतिक जगत में मनुष्य अपने शाश्वत जीवन की विभिन्न अवस्थाओं से होकर गुजरता है। यहाँ पर काल की उपमा तेज छुरे से दी गई है। छुरा तो बाल मूँडने के लिए होता है, किन्तु यदि ठीक से नहीं चलाया जाता तो गजब ढा सकता है। मनुष्य को सलाह दी जाती है, कि अपनी आयु का दुरुपयोग करके विपत्ति न खड़ी करे। उसे अत्यन्त सावधान रहकर अपने जीवन की अवधि का उपयोग आध्यात्मिक साक्षात्कार या कृष्णभावनामृत के लिए करना चाहिए।

शास्त्रस्य पितुरादेशं यो न वेद निवर्तकम् ।

कथं तदनुरूपाय गुणविस्त्रम्भ्युपक्रमेत् ॥ २० ॥

शब्दार्थ

शास्त्रस्य—शास्त्रों का; पितुः—पिता का; आदेशम्—आदेश; यः—जो कोई; न—नहीं; वेद—समझता है; निवर्तकम्—जो जीवन की भौतिक शैली का अन्त कर देता है; कथम्—कैसे; तत्—अनुरूपाय—शास्त्रों के आदेश का पालन करने के लिए; गुण-विस्त्रम्भी—प्रकृति के तीन गुणों में फँसा व्यक्ति; उपक्रमेत्—सन्तति उत्पन्न करने के काम में लग सकता है।

[नारद मुनि ने पूछा था कि मनुष्य किस तरह अज्ञानवश अपने ही पिता की आज्ञा का उल्लंघन कर सकता है। हर्यश्चों ने इस प्रश्न का अर्थ समझ लिया था] मनुष्य को शास्त्र के मूल आदेशों को स्वीकार करना चाहिए। वैदिक सभ्यता के अनुसार मनुष्य को द्वितीय जन्म के चिह्नरूप में यज्ञोपवीत (जनेऊ) प्रदान किया जाता है। वह प्रामाणिक गुरु से शास्त्रों के आदेश प्राप्त कर चुकने के फलस्वरूप दूसरा जन्म पाता है। इसलिए शास्त्र असली पिता है। सारे शास्त्रों का आदेश है कि मनुष्य अपने जीवन की भौतिक शैली को समाप्त कर दे। यदि वह पिता अर्थात् शास्त्रों के आदेशों का उद्देश्य नहीं समझता तो वह अज्ञानी है। जो पिता अपने पुत्र को भौतिक कार्यों में लगाये रखने का प्रयत्न करता है, उसके वचन पिता के असली आदेश नहीं होते।

तात्पर्य : भगवद्गीता (१६.७) का कथन है—प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः—

असुरगण जो मनुष्यों से निम्न हैं, किन्तु पशु नहीं कहलाते, *प्रवृत्ति* तथा *निवृत्ति* अर्थात् करणीय कार्य तथा अकरणीय कार्य का अर्थ नहीं समझते। भौतिक जगत में हर व्यक्ति भौतिक जगत पर यथाशक्य प्रभुत्व जताना चाहता है। यह *प्रवृत्ति मार्ग* कहलाता है। किन्तु सारे शास्त्र *निवृत्ति मार्ग* का उपदेश देते हैं अर्थात् भौतिकतावादी जीवन-शैली से छुटकारे की सलाह देते हैं। वैदिक सभ्यता दुनिया में सबसे पुरानी है, वैदिक शास्त्रों के अतिरिक्त अन्य शास्त्र भी इस बात पर सहमत हैं। उदाहरणार्थ, बौद्धशास्त्रों में भगवान् बुद्ध यह उपदेश देते हैं कि भौतिकतावादी जीवन-शैली त्याग कर मनुष्य *निर्वाण* प्राप्त कर सकता है। बाइबिल भी एक शास्त्र है, उसमें भी यही उपदेश मिलेगा कि मनुष्य भौतिकतावादी जीवन का अन्त कर दे और भगवद्धाम वापस जाये। हम किसी भी शास्त्र की परीक्षा करें, विशेषतया वैदिक शास्त्र की, तो यही उपदेश दिया जाता है कि मनुष्य अपने भौतिकतावादी जीवन का परित्याग करे और अपने आदि आध्यात्मिक जीवन में वापस आये। शंकराचार्य ने भी यही निष्कर्ष प्रतिपादित किया। *ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या*—यह भौतिक जगत या भौतिकतावादी जीवन केवल माया या भ्रम है, अतएव मनुष्य अपने मायामय या भ्रामक कार्यों को बन्द करके ब्रह्म-पद को प्राप्त करे।

शास्त्र शब्द विशेषतया वैदिक ज्ञान ग्रन्थों का द्योतक है। *साम, यजुर, ऋग् तथा अथर्व*—ये चारों वेद तथा इन वेदों से ज्ञान प्राप्त करने वाले अन्य ग्रन्थ वैदिक ग्रन्थ माने जाते हैं। *भगवद्गीता* समस्त वैदिक ज्ञान का सार है, अतएव यह ऐसा शास्त्र है, जिसके उपदेशों को विशेष रूप से मानना चाहिए। समस्त शास्त्रों के इस सार में कृष्ण स्वयं उपदेश देते हैं कि मनुष्य अन्य सारे कर्तव्यों को त्याग कर उनकी शरण ग्रहण करे (*सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज*)।

मनुष्य को शास्त्र के नियमों का पालन करने की दीक्षा दी जानी चाहिए। दीक्षा देते समय कृष्णभावनामृत आन्दोलन मनुष्य से शास्त्र के परम वक्ता कृष्ण से उपदेश लेते हुए, भौतिकतावादी जीवनशैली के सिद्धान्तों को भुलाकर शास्त्र के निर्णय को प्राप्त होना चाहिए, ऐसी माँग करता है। इसलिए हम जिन सिद्धान्तों की सलाह देते हैं, वे हैं—अवैध यौन, नशा, जुआ खेलना तथा

मांसाहार—इन सबका निषेध। इन चार प्रकार के निषिद्ध कार्यों के त्याग से बुद्धिमान व्यक्ति भौतिकतावादी जीवन से मुक्ति पा लेगा और भगवद्धाम वापस जा सकेगा।

पिता तथा माता के आदेशों के विषय में यह कहा जा सकता है कि सारे जीव, जिसमें बिल्लियाँ, कुत्ते तथा सर्प जैसे तुच्छ जीव सम्मिलित हैं, माता-पिता से जन्म पाते हैं। अतः भौतिक माता-पिता पा लेना कोई समस्या नहीं है। प्रत्येक योनि में, जन्म-जन्मांतर जीव को माता-पिता मिलते हैं। किन्तु मानव-समाज में यदि मनुष्य अपने भौतिक माता-पिता तथा उनके आदेशों से तुष्ट हो जाता है और गुरु बनाकर तथा शास्त्रों में शिक्षित होकर आगे उन्नति नहीं करता है, तो वह निश्चित रूप से अंधकार में बना रहता है। भौतिक माता-पिता का महत्त्व तभी है जब वे अपने पुत्र को मृत्यु के चंगुल से मुक्त बनने में शिक्षित कराने में रुचि लेते हों। जैसाकि ऋषभदेव ने (*भागवत* ५.५.१८) उपदेश दिया है—*पिता न स स्याज्जननी न सा स्यात्। न मोचयेद्यः समुपेतमृत्युम्।* जो व्यक्ति अपने आश्रित पुत्र को मृत्यु के आसन्न संकट से न बचा सके, उसे पिता या माता बनने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए। जो माता-पिता अपने पुत्र को बचाना नहीं जानते, उनका कोई महत्त्व नहीं है, क्योंकि ऐसे माता-पिता किसी भी योनि में, यहाँ तक कि कुत्तों, बिल्लियों आदि की योनि को भी, प्राप्त हो सकते हैं। केवल ऐसे माता-पिता जो अपने पुत्र को आध्यात्मिक पद तक उठा सकें प्रामाणिक माता-पिता हैं। इसलिए वैदिक-प्रणाली में कहा जाता है *जन्मना जायते शूद्रः*— भौतिक माता पिता से जन्म लेने वाला शूद्र के तुल्य होता है। किन्तु जीवन का उद्देश्य ब्राह्मण अर्थात् उच्चकोटि का मनुष्य बनना है।

उच्चकोटि का बुद्धिमान व्यक्ति ब्राह्मण कहलाता है, क्योंकि वह परब्रह्म अर्थात् परम सत्य को जानता है। वैदिक आदेशों के अनुसार *तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्*—इस विज्ञान को जानने के लिए मनुष्य को प्रामाणिक गुरु के पास जाना चाहिए, जो शिष्य को यज्ञोपवीत द्वारा दीक्षा देगा जिससे वह वैदिक ज्ञान समझ सके। *जन्मना जायते शूद्रः संस्कारद्धि भवेद् द्विजः।* प्रामाणिक गुरु के प्रयास से ब्राह्मण बनना *संस्कार* कहलाता है। दीक्षा के बाद मनुष्य शास्त्र-अध्ययन में लग जाता

है। शास्त्र विद्यार्थी को शिक्षा देता है कि भौतिकतावादी जीवन से किस तरह छुटकारा पाकर भगवद्धाम लौटा जाये।

कृष्णभावनामृत आन्दोलन भौतिकतावादी जीवन से विरक्त होकर भगवान् के पास लौटने के इस उच्चतर ज्ञान की शिक्षा देता है, किन्तु दुर्भाग्यवश बहुत से माता-पिता इस आन्दोलन से अधिक सन्तुष्ट नहीं हैं। हमारे छात्रों के माता-पिता के अतिरिक्त अनेक व्यापारी जन भी असन्तुष्ट हैं, क्योंकि हम अपने छात्रों को नशा, मांसाहार, अवैध मैथुन तथा जुआ खेलने की आदतों को छोड़ने की शिक्षा देते हैं। यदि कृष्णभावनामृत आन्दोलन का विस्तार होता है, तो तथाकथित व्यापारियों को अपने कसाईघर, शराब खाने तथा अपनी सिगरेट फैक्टरियाँ बन्द करनी पड़ेंगी। इसलिए वे भी अत्यधिक भयभीत हैं। किन्तु हमारे पास अपने शिष्यों को भौतिकतावादी जीवन से छुटकारा दिलाने के अतिरिक्त कोई अन्य विकल्प नहीं है। हमें उन्हें भौतिक जीवन से विपरीत जीवन की शिक्षा देनी चाहिए जिससे हम उन्हें जन्म-मृत्यु के चक्कर से बचा सकें।

इसलिए नारद मुनि ने प्रजापति दक्ष के पुत्र हर्यश्नों को सलाह दी कि संतति उत्पन्न करने के बजाय अच्छा हो कि वे उसका परित्याग करें और शास्त्रों के आदेशानुसार आध्यात्मिक ज्ञान की सिद्धि प्राप्त करें। *भगवद्गीता* (१६.२३) में शास्त्रों की महत्ता का उल्लेख हुआ है—

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ।

न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥

“जो शास्त्रों के आदेशों की अवहेलना करता है और मनमाने ढंग से कार्य करता है उसे न तो सिद्धि, न सुख और न ही परम गति की प्राप्ति हो पाती है।”

इति व्यवसिता राजन्हर्यश्वा एकचेतसः ।

प्रययुस्तं परिक्रम्य पन्थानमनिवर्तनम् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; व्यवसिता:—नारद मुनि के उपदेशों से पूर्णतया आश्वस्त हुए; राजन्—हे राजन्; हर्यश्वा:—प्रजापति दक्ष के पुत्र; एक-चेतस:—सभी एकमत होने से; प्रययु:—विदा ली; तम्—नारदमुनि को; परिक्रम्य—प्रदक्षिणा करके; पन्थानम्—पथ पर; अनिवर्तनम्—जिससे इस भौतिक जगत में फिर से कोई वापस नहीं आता।

शुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा : हे राजन्! नारद मुनि के उपदेशों को सुनने के बाद प्रजापति दक्ष के पुत्र हर्यश्वों को पूरी तरह से समझ में आ गया। उन सबों ने उनके उपदेशों में विश्वास किया और वे एक ही निष्कर्ष पर पहुँचे। उन्हें अपना गुरु स्वीकार कर लेने पर उन्होंने उस महामुनि की प्रदक्षिणा की और उस पथ का अनुसरण किया जिससे कोई इस जगत में फिर नहीं लौटता।

तात्पर्य : इस श्लोक से हम दीक्षा तथा गुरु-शिष्य के कर्तव्यों का अर्थ समझ सकते हैं। गुरु कभी भी अपने शिष्य को यह शिक्षा नहीं देता, “मुझसे मंत्र लो, मुझे कुछ धन दो और इस योग पद्धति का अभ्यास करके तुम भौतिकतावादी जीवन में दक्ष बन जाओगे।” यह गुरु का कर्तव्य नहीं है। प्रत्युत गुरु अपने शिष्य को शिक्षा देता है कि किस तरह भौतिकतावादी जीवन का परित्याग करना चाहिए और शिष्य का कर्तव्य है कि वह उसके उपदेशों को हृदयंगम करे और अन्ततः भगवद्धाम वापस जाने के मार्ग का अनुसरण करे, जहाँ से कोई भी इस भौतिक जगत में वापस नहीं आता।

नारद मुनि के उपदेशों को सुनने के बाद प्रजापति दक्ष के पुत्र हर्यश्वों ने सैकड़ों सन्तानें उत्पन्न करने तथा उनकी देखभाल करने की झंझट में पड़ने के बजाय भौतिकतावादी जीवन में न फँसने का निश्चय किया। यह व्यर्थ में फँसने की बात होती। हर्यश्वों ने पाप-पुण्य के कर्मों का विचार नहीं किया, उनके भौतिकतावादी पिता ने जनसंख्या बढ़ाने का उन्हें आदेश दिया था, किन्तु नारद मुनि के वचनों में आकर वे उस आदेश का पालन नहीं कर सके। नारद मुनि ने उनके गुरु के रूप में उन्हें ये शास्त्रीय उपदेश दिये कि उन्हें इस भौतिक जगत का परित्याग कर देना चाहिए और उन्होंने प्रामाणिक शिष्यों की तरह उनके आदेशों का पालन किया। मनुष्य को इस ब्रह्माण्ड में विभिन्न लोकों में चक्कर लगाते रहने का प्रयास नहीं करना चाहिए, क्योंकि यदि कोई सर्वोच्च लोक,

ब्रह्मलोक, भी चला जाता है, तो भी उसे लौटना होगा (*क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति*) । कर्मियों के प्रयास समय का अपव्यय होते हैं । मनुष्य को भगवद्धाम वापस जाने का प्रयास करना चाहिए । यही जीवन की सिद्धि है । जैसा कि *भगवद्गीता* (८.१६) में भगवान् कहते हैं—

आब्रह्म भुवनाँल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ।

मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥

“इस जगत में सर्वोच्च लोक से लेकर निम्नतम तक सारे लोक दुखों के घर हैं जहाँ जन्म तथा मरण का चक्कर लगा रहता है । किन्तु हे कुन्तीपुत्र ! जो मेरे धाम को प्राप्त कर लेता है, वह फिर कभी जन्म नहीं लेता ।”

स्वरब्रह्मणि निर्भातहृषीकेशपदाम्बुजे ।

अखण्डं चित्तमावेश्य लोकाननुचरन्मुनिः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

स्वर-ब्रह्मणि—आध्यात्मिक ध्वनि में; निर्भात—मन के समक्ष स्पष्ट रूप से रखते हुए; हृषीकेश—भगवान् कृष्ण का, जो कि इन्द्रियों के स्वामी हैं; पदाम्बुजे—चरणकमलों पर; अखण्डम्—अटूट; चित्तम्—चेतना; आवेश्य—लगाकर; लोकान्—सारे लोकों; अनुचरत्—चारों ओर यात्रा की; मुनिः—नारदमुनि ने ।

संगीत यंत्रों में सात स्वरो—ष, ऋ, गा, म, प, ध तथा नि का प्रयोग किया जाता है, किन्तु ये सातों स्वर मूलतः सामवेद से आये । महामुनि नारद भगवान् की लीलाओं का वर्णन करते हुए ध्वनियाँ करते हैं । ऐसी दिव्य ध्वनियों यथा हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे । हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे, से वे अपने मन को भगवान् के चरणकमलों पर स्थिर करते हैं । इस तरह वे इन्द्रियों के स्वामी हृषीकेश का प्रत्यक्ष दर्शन करते हैं । हर्यश्रों का उद्धार करने के बाद नारद मुनि ने अपने मन को भगवान् के चरणकमलों में सदा स्थिर रखते हुए सारे लोकों में अपनी यात्रा जारी रखी ।

तात्पर्य : यहाँ पर नारद मुनि की अच्छाई का वर्णन हुआ है । वे सदैव भगवान् की लीलाओं का कीर्तन करते हैं और पतितात्माओं का उद्धार करके भगवद्धाम वापस भेजते हैं । इस सम्बन्ध में

श्रील भक्तिविनोदठाकुर का गीत है,

नारद मुनि, बाजाय वीणा,

राधिका-रमण'-नामे ।

नाम अमनि, उदित हय,

भक्त-गीत-सामे ॥

अमिय-धारा, वरिषे घन,

श्रवण-युगले गया ।

भक्त-जन, सघने नाचे,

भरिया आपन हिया ॥

माधुरी-पूर, आसब पशि',

माताय जगत्-जने ।

केह वा कांदे केह वा नाचे,

केह माते मने मने ॥

पञ्च-वदन, नारदे धरि'

प्रेमेर सघन रोल ।

कमलासन, नाचिया बले'

'बोल बोल हरि बोल' ॥

सहस्रानन, परम-सुखे,

'हरि हरि' बलि'' गाय ।

नाम-प्रमावे, मातिल विश्व

नाम-रस सबे पाय ॥

श्रीकृष्ण-नाम, रसने स्फुरि',

पुरा 'ल आमार आश ।

श्री-रूप-पदे याचये इहा

भक्ति विनोद दास ॥

इस गीत का तात्पर्य है कि महात्मा नारद मुनि राधिकारमण अर्थात् कृष्ण के दूसरे नाम की ध्वनि निकलाते हुए एक तारवाला यंत्र, वीणा, बजाते हैं। ज्योंही वे तार झंकारते हैं सारे भक्त अतीव सुन्दर ध्वनि करने लगते हैं। तारवाले यंत्र के साथ गायन अमृत की वर्षा जैसा प्रतीत होता है और सारे भक्त भाव-विभोर होकर जी-भर नाचते हैं। नाचते समय वे भाव में उन्मत्त हो जाते हैं मानो माधुरीपूर नामक शराब पी रहे हों। उनमें से कुछ चिल्लाते हैं, कुछ नाचते हैं और कुछ खुलकर न नाचने के कारण मन ही मन नाचते हैं। शिवजी नारद मुनि का आलिंगन करते हैं और उनसे भावविष्ट वाणी में बातें करने लगते हैं। शिवजी को नारद के साथ नाचते देखकर ब्रह्माजी भी यह कहते हुए सम्मिलित हो जाते हैं, “सभी लोग उच्चारण करो—हरिबोल! हरिबोल!” स्वर्ग के राजा इन्द्र भी क्रमशः प्रसन्नतापूर्वक उनके साथ हो लेते हैं और नाचने तथा हरिबोल! हरि बोल! का उच्चारण करने लगते हैं। इस तरह ईश्वर के पवित्र नाम की दिव्य ध्वनि के प्रभाव से सारा ब्रह्माण्ड भावमय हो जाता है। भक्तिविनोद ठाकुर कहते हैं “जब ब्रह्माण्ड भावमय हो जाता है, तो मेरी इच्छा तुष्ट हो जाती है। अतएव मैं रूप गोस्वामी के चरणकमलों पर प्रार्थना करता हूँ कि हरे नाम का यह कीर्तन इसी तरह उत्तम ढंग से चलता रहे।”

ब्रह्माजी नारदमुनि के गुरु हैं और नारद मुनि व्यास देव के गुरु हैं तथा व्यासदेव मध्वाचार्य के गुरु हैं। इस तरह गौड़ीय-माध्व-सम्प्रदाय नारदमुनि की गुरु परम्परा में आता है। इस गुरु-परम्परा के सदस्यों, दूसरे शब्दों में, कृष्णभावनामृत आन्दोलन के सदस्यों को चाहिए कि हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे। हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे की दिव्य ध्वनि का कीर्तन करते हुए नारद मुनि के चरणचिह्नों का अनुसरण करें। उन्हें हरे कृष्ण मंत्र की ध्वनि तथा भगवद्गीता, श्रीमद्भागवत एवं चैतन्य चरितामृत के उपदेशों द्वारा पतिततात्माओं का उद्धार करने के लिए सर्वत्र

जाना चाहिए। इससे भगवान् प्रसन्न होंगे। यदि कोई वास्तव में नारदमुनि के उपदेशों का पालन करे तो वह आध्यात्मिक दृष्टि से प्रगति कर सकता है। यदि कोई नारद मुनि को प्रसन्न कर लेता है, तो भगवान् हृषीकेश भी प्रसन्न हो जाते हैं (*यस्य प्रसादाद् भगवत्प्रसादः*)। वर्तमान (सन्निकट का) गुरु नारदमुनि का प्रतिनिधि होता है। नारदमुनि के उपदेशों तथा वर्तमान गुरु के उपदेशों में कोई अन्तर नहीं होता। नारद मुनि तथा वर्तमान गुरु दोनों ही कृष्ण की उन्हीं शिक्षाओं का प्रवचन करते हैं, जिन्हें कृष्ण *भगवद्गीता* में कहते हैं (१८.६५-६६)—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।

मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।

अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥

“सदैव मेरा चिन्तन करो, मेरे भक्त बनो, मेरी पूजा करो और मुझे नमस्कार करो। इस प्रकार तुम निश्चित रूप से मेरे पास आओगे। मैं तुम्हें वचन देता हूँ, क्योंकि तुम मेरे प्रिय मित्र हो। समस्त प्रकार के धर्म का परित्याग करो और मेरी शरण में आओ। मैं समस्त पापों के फल से तुम्हारा उद्धार कर दूँगा। शोक मत करो।”

नाशं निशम्य पुत्राणां नारदाच्छीलशालिनाम् ।

अन्वतप्यत कः शोचन्सुप्रजस्त्वं शुचां पदम् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

नाशम्—हानि; निशम्य—सुनकर; पुत्राणाम्—अपने पुत्रों की; नारदात्—नारद से; शील-शालिनाम्—सुशील व्यक्तियों में सर्वश्रेष्ठ; अन्वतप्यत—सहन किया; कः—प्रजापति दक्ष; शोचन्—शोक करते हुए; सु-प्रजस्त्वम्—दस हजार सुशील पुत्रों वाला; शुचाम्—शोक का; पदम्—स्थान।

प्रजापति दक्ष के पुत्र हर्यश्च अत्यन्त सुशील, सुसंस्कृत पुत्र थे, किन्तु दुर्भाग्यवश नारद मुनि के उपदेशों से वे अपने पिता के आदेश से विपथ हो गये। जब दक्ष ने यह समाचार सुना, जिसे उन तक नारद मुनि लाये थे, तो वे पश्चाताप करने लगे। यद्यपि वे ऐसे उत्तम पुत्रों

के पिता थे, किन्तु वे सब उनके हाथ से निकल चुके थे। निश्चय ही यह शोचनीय था।

तात्पर्य : प्रजापति दक्ष के पुत्र हर्यश्च निश्चय ही सुशील, विद्वान तथा बड़े-चढ़े थे और अपने पिता के आदेशानुसार वे सब अपने परिवार के लिए उत्तम पुत्र उत्पन्न करने के लिए तपस्या हेतु गये थे। किन्तु नारद मुनि ने उनके उत्तम स्वभाव तथा संस्कृति का लाभ उठाकर उन्हें समुचित निर्देश दिया कि वे इस भौतिक जगत में न फँसें, अपितु अपने ज्ञान तथा संस्कृति का उपयोग अपने भौतिक मामलों को समाप्त करने में करें। हर्यश्चों ने नारद मुनि के आदेश का पालन किया, किन्तु जब इसका समाचार प्रजापति दक्ष के पास लाया गया तो प्रजापति नारद मुनि के इन कार्यों से सुखी होने के बजाय अतीव दुखी हुए। इसी तरह हम अधिक से अधिक युवाओं को उनके परम लाभ हेतु कृष्णभावनामृत आन्दोलन में लाने का प्रयास कर रहे हैं, किन्तु इस आन्दोलन में शरीक होने वाले युवकों के माता-पिता अत्यधिक दुखी होने से शोक कर रहे हैं और इसके विरुद्ध प्रचार कर रहे हैं। निस्सन्देह, प्रजापति दक्ष ने नारद मुनि के विरुद्ध कोई प्रचार नहीं किया, लेकिन जैसाकि हम बाद में देखेंगे, दक्ष ने नारद मुनि को उनके उपकारी कार्यों के लिए शाप दिया। यह है भौतिकतावादी जीवन की शैली। भौतिकतावादी माता-पिता अपने पुत्रों को सन्तानें उत्पन्न करने में लगाये रखना, सुधरी आर्थिक स्थिति के लिए प्रयत्न करते रहना तथा भौतिकतावादी जीवन में सड़ते रहने देना चाहते हैं। जब उनकी सन्तानें बर्बाद हो जाती हैं, व्यर्थ के नागरिक बनती हैं, तो वे दुखी नहीं होते किन्तु वे तब शोक करते हैं, जब वे जीवन के चरम लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए कृष्णभावनामृत आन्दोलन में शरीक हो जाते हैं। माता-पिताओं तथा कृष्णभावनामृत आन्दोलन के बीच यह शत्रुता सनातन काल से चली आ रही है। यहाँ तक कि नारद मुनि की भी निन्दा की गई तो दूसरों के विषय में क्या कहा जाये? फिर भी नारद मुनि कभी अपने मिशन को नहीं त्यागते। यथासम्भव पतितात्माओं का उद्धार करने के लिए वे अपनी वीणा बजाते रहते हैं और हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे। हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे की दिव्य ध्वनि का उच्चारण करते रहते हैं।

स भूयः पाञ्चजन्यायामजेन परिसान्त्वितः ।
पुत्रानजनयदक्षः सवलाश्वान्सहस्रिणः ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

सः—प्रजापति दक्षः; भूयः—पुनः; पाञ्चजन्यायाम्—अपनी पत्नी अस्कनी या पाञ्चजनी के गर्भ से; अजेन—ब्रह्मा द्वारा;
परिसान्त्वितः—सान्त्वना दिये जाने पर; पुत्रान्—पुत्रों को; अजनयत्—उत्पन्न किया; दक्षः—प्रजापति दक्ष ने;
सवलाश्वान्—सवलाश्वों के नामवाले; सहस्रिणः—एक हजार।

जब प्रजापति दक्ष अपने खोये हुए पुत्रों के लिए शोक कर रहे थे तो ब्रह्मा ने उपदेश देकर उन्हें सान्त्वना दी और उसके बाद दक्ष ने अपनी पत्नी पाञ्चजनी के गर्भ से एक हजार सन्तानें और उत्पन्न कीं। इस बार के उनके पुत्र सवलाश्व कहलाये।

तात्पर्य : प्रजापति दक्ष का यह नाम इसलिए पड़ा था, क्योंकि वे सन्तानें उत्पन्न करने में दक्ष थे। (दक्ष का अर्थ है “पटु”)। पहले उन्होंने अपनी पत्नी के गर्भ से दस हजार सन्तानें उत्पन्न की और जब ये सन्तानें खो गईं—जब वे भगवद्धाम चली गईं तो उन्होंने सन्तानों की दूसरी टोली उत्पन्न की जो सवलाश्व कहलाई। प्रजापति दक्ष सन्तानें उत्पन्न करने में अत्यन्त दक्ष हैं और नारदमुनि समस्त बद्धजीवों का उद्धार करके उन्हें भगवद्धाम वापस भेजने में दक्ष हैं। अतएव भौतिकतावादी दक्ष आध्यात्मिक दक्ष नारद मुनि से सहमत नहीं होते, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि नारद मुनि हरे कृष्ण मंत्र के कीर्तन करने का अपना कार्य त्याग देंगे।

ते च पित्रा समादिष्टाः प्रजासर्गे धृतव्रताः ।
नारायणसरो जग्मुर्यत्र सिद्धाः स्वपूर्वजाः ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

ते—ये पुत्र (सवलाश्व); च—तथा; पित्रा—अपने पिता द्वारा; समादिष्टाः—आदेश दिये गये; प्रजा-सर्गे—सन्तति या जनसंख्या बढ़ाने में; धृत-व्रताः—व्रत स्वीकार किया; नारायण-सरः—नारायण सरस नामक पवित्र झील; जग्मुः—गये; यत्र—जहाँ; सिद्धाः—पूरा किया; स्व-पूर्व-जाः—उनके बड़े भाई जो पहले वहाँ गये थे।

सन्तानें उत्पन्न करने के अपने पिता के आदेशानुसार पुत्रों की यह दूसरी टोली भी नारायण सरस नामक उस स्थान पर गई, जहाँ उनके भाइयों ने इसके पूर्व नारद के उपदेशों का पालन करते हुए सिद्धि प्राप्त की थी। तपस्या का महान् व्रत लेकर सवलाश्व उस पवित्र

स्थान पर रहने लगे।

तात्पर्य : प्रजापति दक्ष ने अपने पुत्रों की दूसरी टोली को उसी स्थान पर भेजा जहाँ उनके पहले पुत्रों ने सिद्धि प्राप्त की थी। अपने पुत्रों की दूसरी टोली को उसी स्थान पर भेजने में वे तनिक भी नहीं हिचकिचाये, यद्यपि ये भी नारद के उपदेशों के शिकार हो सकते थे। वैदिक संस्कृति के अनुसार सन्तान उत्पन्न करने के लिए मनुष्य को गृहस्थ जीवन में प्रवेश करने से पूर्व ब्रह्मचारी के रूप में आध्यात्मिक ज्ञान के लिए प्रशिक्षित किया जाना चाहिए। यह वैदिक प्रणाली है। अतः प्रजापति दक्ष ने अपने पुत्रों की दूसरी टोली को सांस्कृतिक प्रगति के लिए भेजा, यद्यपि वहाँ यह खतरा था कि नारद के उपदेशों से वे अपने बड़े भाइयों की तरह कहीं बुद्धिमान न बन जाँय। कर्तव्यनिष्ठ पिता के रूप में उन्होंने अपने पुत्रों को जीवन की पूर्णता विषयक सांस्कृतिक उपदेश प्राप्त करने की अनुमति देने में हिचकिचाहट नहीं की। वे उन पर निर्भर रहे कि वे भगवद्धाम वापस जाना चाहते हैं या भौतिक जगत में इसी विभिन्न योनियों में सड़ना चाहते हैं। सभी परिस्थितियों में पिता का कर्तव्य है कि अपने पुत्रों को सांस्कृतिक शिक्षा दे और बाद में वे यह निश्चय करें कि वे किस मार्ग पर जाना चाहते हैं। जिम्मेदार पिताओं को चाहिए वे अपने पुत्रों को, जो कृष्णभावनामृत आन्दोलन के सान्निध्य में सांस्कृतिक उन्नति कर रहे हैं, न रोके। यह पिता का कर्तव्य नहीं होता। पिता का कर्तव्य है कि वह अपने पुत्रों को पूर्ण स्वतंत्रता दे कि वे गुरु के उपदेशों का पालन करते हुए आध्यात्मिक रूप से उन्नत हो जाने पर अपने मन के अनुसार चुनाव करें।

तदुपस्पर्शनादेव विनिर्धूतमलाशयाः ।

जपन्तो ब्रह्म परमं तेपुस्तत्र महत्तपः ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

तत्—उस तीर्थस्थान के; उपस्पर्शनात्—जल में नियमित स्नान करने से; एव—निस्सन्देह; विनिर्धूत—पूर्णतया शुद्ध हुए; मल-आशयाः—हृदय के भीतर की सारी धूल से; जपन्तः—कीर्तन करते या गुणगुनाते हुए; ब्रह्म—ॐ से शुरु होने वाले

मंत्र (यथा ॐ तद् विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः); परमम्—चरम लक्ष्य; तेषु:—सम्पन्न किया; तत्र—वहाँ; महत्—महान्; तपः—तपस्या ।

नारायण सरस पर पुत्रों की दूसरी टोली ने पहली टोली की ही तरह तपस्या की। उन्होंने पवित्र जल में स्नान किया और इसके स्पर्श से उनके हृदयों की सारी मलिन भौतिक इच्छाएँ दूर हो गईं। उन्होंने ॐकार से प्रारम्भ होने वाले मंत्रों का मन में जप किया और कठिन तपस्याएं की।

तात्पर्य : प्रत्येक वैदिक मंत्र ब्रह्म कहलाता है, क्योंकि प्रत्येक मंत्र के प्रारम्भ में ॐ या ॐकार ब्रह्माक्षर होता है। उदाहरणार्थ, ॐ नमो भगवते वासुदेवाय। भगवद्गीता (७.८) में भगवान् कृष्ण कहते हैं—प्रणवः सर्ववेदेषु—सारे वैदिक मंत्रों में मेरा प्रतिनिधित्व प्रणव या ॐकार द्वारा होता है। इस तरह ॐकार से प्रारम्भ होने वाले वैदिक मंत्रों का उच्चारण कृष्ण के नाम का प्रत्यक्ष उच्चारण है। इसमें कोई अन्तर नहीं है। कोई चाहे ॐकार उच्चारण करे या भगवान् को कृष्ण कहकर सम्बोधित करे, अर्थ एकसा होता है, किन्तु चैतन्य महाप्रभु ने यह संस्तुति की है कि इस युग में हरे कृष्ण मंत्र का कीर्तन किया जाये (हरेनामैव केवलम्)। यद्यपि हरे कृष्ण तथा ॐकार से प्रारम्भ होने वाले वैदिक मंत्रों में कोई अन्तर नहीं है, किन्तु इस युग के आध्यात्मिक आन्दोलन के नायक श्री चैतन्य महाप्रभु ने संस्तुति की है कि मनुष्य हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे। हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे का कीर्तन करें।

अब्भक्षाः कतिचिन्मासान्कतिचिद्वायुभोजनाः ।

आराधयन्मन्त्रमिममभ्यस्यन्त इडस्पतिम् ॥ २७ ॥

ॐ नमो नारायणाय पुरुषाय महात्मने ।

विशुद्धसत्त्वधिष्ययाय महाहंसाय धीमहि ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

अप्-भक्षाः—केवल जल पीते हुए; कतिचित् मासान्—कुछ महीनों तक; कतिचित्—कुछ; वायु-भोजनाः—वायु खाते हुए अथवा केवल श्वास लेते हुए; आराधयन्—पूजा की; मन्त्रम् इमम्—इस मंत्र का, जो नारायण से अभिन्न है; अभ्यस्यन्तः—अभ्यास करते हुए; इडः-पतिम्—सभी मंत्रों के स्वामी, भगवान् विष्णु को; ॐ—हे प्रभु; नमः—सादर नमस्कार; नारायणाय—नारायण को; पुरुषाय—परम पुरुष को; महा-आत्मने—उच्च परमात्मा; विशुद्ध-सत्त्व-

धिष्ण्याय—सदैव दिव्य धाम में स्थित रहने वाले; महा-हंसाय—महान् हंस के समान भगवान् को; धीमहि—हम सदैव अर्पित करते हैं।

प्रजापति दक्ष के पुत्रों ने कुछ महीनों तक केवल जल पिया और वायु खायी। इस तरह महान् तपस्या करते हुए उन्होंने इस मंत्र का जाप किया, “हम उन भगवान् नारायण को नमस्कार करते हैं, जो सदैव अपने दिव्य धाम में स्थित रहते हैं। चूँकि वे परम पुरुष (परमहंस) हैं, अतएव हम उन्हें सादर नमस्कार करते हैं।”

तात्पर्य : इन श्लोकों से ऐसा लगता है कि महामंत्र या वैदिक मंत्रों के उच्चारण के साथ-साथ कठिन तपस्या भी करनी चाहिए। कलियुग के लोग यहाँ पर उल्लिखित कठिन तपस्या केवल जल पीते हुए तथा महीनों तक केवल वायु खाते हुए नहीं कर सकते। लोगों को ऐसी विधि की नकल नहीं करनी चाहिए। किन्तु उन्हें कम से कम चार अवांछित तत्त्वों अर्थात् अवैध मैथुन, मांसाहार, नशा तथा जुआ खेलने का परित्याग करके थोड़ी सी तपस्या करनी चाहिए। इस तपस्या को कोई भी कर सकता है और फिर हरे कृष्ण मंत्र का उच्चारण तुरन्त ही प्रभावशाली होगा। उसे तपस्या की विधि का परित्याग नहीं करना चाहिए। यदि सम्भव हो तो उसे गंगा या यमुना के जल में स्नान करना चाहिए या गंगा-यमुना की अनुपस्थिति में उसे समुद्र के जल में स्नान करना चाहिए। यह तपस्या का एक अंग है। इसलिए हमारे कृष्णभावनामृत आन्दोलन ने दो अत्यन्त विशाल केन्द्रों की स्थापना की है—एक वृन्दावन में और दूसरा मायापुर नवद्वीप में। वहाँ पर मनुष्य गंगा में या यमुना में स्नान कर सकता है, हरे कृष्णमंत्र का कीर्तन कर सकता है और इस तरह सिद्ध बनकर भगवद्धाम वापस जा सकता है।

इति तानपि राजेन्द्र प्रजासर्गधियो मुनिः ।

उपेत्य नारदः प्राह वाचः कूटानि पूर्ववत् ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; तान्—उनको (प्रजापति दक्ष के पुत्र सवलाश्वों को); अपि—भी; राजेन्द्र—हे राजा परीक्षित; प्रजा-सर्ग-धियः—जो इस विचार के थे कि सन्तान उत्पन्न करना सबसे महत्त्वपूर्ण कर्तव्य है; मुनिः—महान् ऋषि; उपेत्य—पास जाकर; नारदः—नारद ने; प्राह—कहा; वाचः—शब्द; कूटानि—गूढ़ पहेली जैसे; पूर्व-वत्—पहले की ही तरह।

हे राजा परीक्षित! नारदमुनि प्रजापति दक्ष के उन पुत्रों के पास पहुँचे जो सन्तान उत्पन्न करने के लिए तपस्या में लगे हुए थे और उनसे उसी तरह के गूढ़ शब्द कहे जैसे उनके ज्येष्ठ भाइयों से कहे थे।

दाक्षायणाः संश्रृणुत गदतो निगमं मम ।

अन्विच्छतानुपदवीं भ्रातृणां भ्रातृवत्सलाः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

दाक्षायणाः—हे प्रजापति दक्ष के पुत्रो; संश्रृणुत—ध्यानपूर्वक सुनो; गदतः—जो मैं कह रहा हूँ; निगमम्—उपदेश; मम—मेरा; अन्विच्छत—अनुगमन करो; अनुपदवीम्—मार्ग; भ्रातृणाम्—अपने भाइयों का; भ्रातृ-वत्सलाः—हे अपने भाइयों के परम वत्सल।

हे दक्षपुत्रो! मेरे उपदेशरूपी वचनों को ध्यानपूर्वक सुनो। तुम सभी अपने ज्येष्ठ भाइयों, हर्यश्रों, के प्रति अति वत्सल हो। अतएव तुम्हें उनके मार्ग का अनुसरण करना चाहिए।

तात्पर्य : नारद मुनि ने प्रजापति दक्ष के पुत्रों की दूसरी टोली को उनके भाइयों के प्रति स्वाभाविक प्रेम को जाग्रत करके प्रोत्साहित किया। उन्होंने यह प्रेरणा दी कि वे अपने ज्येष्ठ भाइयों का अनुगमन करें यदि उन्हें उनसे तनिक भी प्रेम है। पारिवारिक स्नेह अतीव प्रबल होता है, अतएव नारद मुनि ने उन्हें हर्यश्रों के साथ पारिवारिक सन्बन्ध को स्मरण कराने की चाल चली। सामान्यतया निगम शब्द वेदों का द्योतक हैं, किन्तु यहाँ पर यह शब्द वेदों में निहित उपदेशों का द्योतक है। श्रीमद्भागवत का कथन है—निगम कल्पतरुर्गलितं फलम्—वैदिक उपदेश वृक्ष के समान हैं जिसका पका हुआ फल श्रीमद्भागवत है। नारद मुनि इस फल को बाँटने में लगे हैं, अतएव उन्होंने अज्ञानी मानव-समाज के लाभ हेतु व्यासदेव को इस महापुराण श्रीमद्भागवत की रचना करने के लिए आदेश दिया।

अनर्थोपशमं साक्षाद् भक्तियोगमधोक्षजे ।

लोकस्याजानतो विद्वांश्चक्रे सात्वतसंहिताम् ॥

“जीव के भौतिक कष्ट, जिन्हें वह अनर्थ समझता है, भक्तियोग द्वारा सीधे कम किये जा

सकते हैं, किन्तु जन सामान्य इसे नहीं जानता, इसलिए विद्वान व्यासदेव ने इस वैदिक साहित्य का संकलन किया जिसका सम्बन्ध परम सत्य से है।” *भागवत* १.७.६)। लोग अज्ञान के कारण दुख पा रहे हैं और सुख के लिए वे गलत मार्ग का अनुसरण कर रहे हैं। यह अनर्थ कहलाता है। ये भौतिक कार्यकलाप उन्हें कभी सुखी नहीं बना सकेंगे, इसीलिए नारद ने व्यासदेव को *श्रीमद्भागवत* के उपदेशों को आंकित करने का आदेश दिया। व्यासदेव ने वस्तुतः नारद की आज्ञा का पालन किया और इसे सम्पन्न किया। *श्रीमद्भागवत* वेदों का परम उपदेश है। *गलितं फलम्—श्रीमद्भागवत* वेदों का पका हुआ फल है।

भ्रातृणां प्रायणं भ्राता योऽनुतिष्ठति धर्मवित् ।

स पुण्यबन्धुः पुरुषो मरुद्भिः सह मोदते ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

भ्रातृणाम्—ज्येष्ठ भाइयों का; प्रायणम्—मार्ग; भ्राता—आज्ञाकारी भाई; यः—जो; अनुतिष्ठति—अनुगमन करता है; धर्म-वित्—धार्मिक सिद्धान्तों का ज्ञाता; सः—वह; पुण्य-बन्धुः—अत्यधिक पवित्र; पुरुषः—पुरुष; मरुद्भिः—वायु के देवताओं के; सह—साथ; मोदते—जीवन का आनन्द भोगता है।

धर्म के नियमों से अवगत भाई अपने ज्येष्ठ भाइयों के पदचिन्हों का अनुगमन करता है।

अत्यधिक बड़े-चढ़े होने से ऐसा पवित्र भाई मरुत जैसे देवताओं की संगति करने तथा आनन्द भोगने का अवसर प्राप्त करता है, जो सभी प्रकार से अपने भाइयों के प्रति स्नेहिल है।

तात्पर्य : विभिन्न भौतिक सम्बन्धों में अपने-अपने विश्वास के अनुसार लोग विभिन्न लोकों में भेजे जाते हैं। यहाँ पर यह कहा गया है कि जो अपने भाइयों का अति आज्ञाकारी होता है उसे उनके ही जैसे मार्ग का अनुसरण करना चाहिए और मरुदलोक पहुँचने का अवसर प्राप्त करना चाहिए। नारद मुनि ने प्रजापति दक्ष के पुत्रों की दूसरी टोली को उनके अपने बड़े भाइयों का अनुगमन करने तथा आध्यात्मिक जगत पहुँचने के लिए सलाह दी।

एतावदुक्त्वा प्रययौ नारदोऽमोघदर्शनः ।

तेऽपि चान्वगमन्मार्गं भ्रातृणामेव मारिष ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

एतावत्—इतना; उक्त्वा—कहकर; प्रययौ—उस स्थान से चले गये; नारदः—नारद मुनि; अमोघ-दर्शनः—जिनकी चितवन सर्वमंगलमय है; ते—वे; अपि—भी; च—तथा; अन्वगमन्—अनुगमन किया; मार्गम्—मार्ग का; भ्रातृणाम्—अपने पहले वाले भाइयों का; एव—निस्सन्देह; मारिष—हे महान् आर्य राजा ।

शुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा : हे आर्यों में सर्व अग्रणी! नारदमुनि, जिनकी कृपादृष्टि कभी व्यर्थ नहीं जाती, प्रजापति दक्ष के पुत्रों से इतना कहकर अपनी योजना के अनुसार वहाँ से विदा हो गये। दक्ष के पुत्रों ने अपने बड़े भाइयों का अनुसरण किया। सन्तानें उत्पन्न करने का प्रयास न करके वे कृष्णभावनामृत में लग गये।

सध्रीचीनं प्रतीचीनं परस्यानुपथं गताः ।

नाद्यापि ते निवर्तन्ते पश्चिमा यामिनीरिव ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

सध्रीचीनम्—पूर्णतया सही; प्रतीचीनम्—सर्वोच्च लक्ष्य, भक्ति, की लक्षित जीवन शैली अपनाने से प्राप्य; परस्य—भगवान् का; अनुपथम्—मार्ग; गताः—ग्रहण करके; न—नहीं; अद्य अपि—आज तक भी; ते—वे (प्रजापति दक्ष के पुत्र); निवर्तन्ते—वापस आये हैं; पश्चिमाः—पश्चिमी (जो बीत चुके हैं); यामिनीः—रातें; इव—सदृश ।

सवलाश्रुओं ने सही मार्ग अपनाया जो भक्ति को प्राप्त करने के निमित्त जीवन-शैली द्वारा प्राप्य है या भगवान् की कृपा से प्राप्य है। वे रात्रियों की तरह पश्चिम की ओर गये हैं, किन्तु अभी तक वापस नहीं आये हैं।

एतस्मिन्काल उत्पातान्बहून्यश्यन्प्रजापतिः ।

पूर्ववन्नारदकृतं पुत्रनाशमुपाशृणोत् ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ

एतस्मिन्—इस; काले—समय में; उत्पातान्—उत्पात; बहून्—अनेक; पश्यन्—देखकर; प्रजापतिः—प्रजापति दक्ष ने; पूर्व-वत्—पहले की तरह; नारद—नारद मुनि द्वारा; कृतम्—किया हुआ; पुत्र-नाशम्—अपने पुत्रों की क्षति; उपाशृणोत्—सुना ।

इस समय प्रजापति दक्ष ने अनेक अपशकुन देखे और विविध स्रोतों से सुना कि उनके पुत्रों की दूसरी टोली, सवलाश्रुओं, ने नारद मुनि के उपदेशों के अनुसार अपने ज्येष्ठ भाइयों के

ही मार्ग का अनुसरण किया है।

चुक्रोध नारदायासौ पुत्रशोकविमूर्च्छितः ।
देवर्षिमुपलभ्याह रोषाद्विस्फुरिताधरः ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

चुक्रोध—अत्यन्त क्रुद्ध हुआ; नारदाय—नारदमुनि पर; असौ—वह (दक्ष); पुत्र-शोक—अपने पुत्रों की क्षति के शोक के कारण; विमूर्च्छितः—प्रायः अचेत; देवर्षिम्—देवर्षि नारद को; उपलभ्य—देखकर; आह—कहा; रोषात्—महान् क्रोध वश; विस्फुरित—काँपते हुए; अधरः—होठों वाला ।

जब दक्ष ने सुना कि सवलाश्रुओं ने भी भक्ति में संलग्न होने के लिए इस जगत को छोड़ दिया है, तो वे नारद पर क्रुद्ध हुए और शोक के कारण वे अचेतप्राय हो गये। जब दक्ष की नारद से भेंट हुई तो क्रोध से दक्ष के होंठ काँपने लगे और वे इस प्रकार बोले।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर की टीका है कि नारदमुनि ने प्रियव्रत तथा उत्तानपाद से लेकर स्वायंभुव मनु के सारे परिवार का उद्धार किया था। उन्होंने उत्तानपाद के पुत्र ध्रुव का उद्धार किया था और प्राचीनबर्हि तक का उद्धार किया जो सकाम कर्मों में लगा हुआ था। तो भी वे प्रजापति दक्ष का उद्धार नहीं कर पाये। प्रजापति दक्ष ने नारद को अपने समक्ष देखा, क्योंकि नारद स्वयं उसका उद्धार करने आये थे। नारद मुनि ने प्रजापति दक्ष के पास उनकी शोकाकुल दशा में मिलने का अवसर निकाला, क्योंकि शोकविह्वल दशा भक्तियोग को समझने के लिए उपयुक्त समय होता है। जैसा कि *भगवद्गीता* (७.१६) में कहा गया है—चार प्रकार के लोग—*आर्त* (दुखी), *अर्थार्थी* (धन की आवश्यकता वाला), *जिज्ञासु* (जो पूछताछ करना चाहता है) तथा *ज्ञानी* (ज्ञानवान्)—भक्ति को समझने की कोशिश करते हैं। प्रजापति दक्ष अपने पुत्रों की क्षति होने के कारण अत्यन्त विषाद में था, अतएव नारद ने भौतिक बन्धन से मुक्ति के विषय में उसे उपदेश देने का अवसर ढूँढ निकाला।

श्रीदक्ष उवाच

अहो असाधो साधूनां साधुलिङ्गेन नस्त्वया ।

असाध्वकार्यर्भकाणां भिक्षोर्मार्गः प्रदर्शितः ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

श्री-दक्षः उवाच—प्रजापति दक्ष ने कहा; अहो असाधो—हे अत्यन्त बेईमान अभक्त; साधूनाम्—भक्तों तथा महामुनियों के समाज का; साधु-लिङ्गेन—सन्त पुरुषों का वेश धारण किये; नः—हमको; त्वया—तुम्हारे द्वारा; असाधु—बेईमानी; अकारि—की गई है; अर्भकाणाम्—अनुभवहीन बेचारे बालकों को; भिक्षोः मार्गः—भिखारी या भिक्षुक संन्यासी का मार्ग; प्रदर्शितः—दिखाया गया।

प्रजापति दक्ष ने कहा : हाय नारदमुनि! तुम सन्त पुरुष का वेश धारण करते हो, किन्तु तुम वास्तव में सन्त हो नहीं। यद्यपि अब मैं गृहस्थ जीवन में हूँ, किन्तु मैं सन्तपुरुष हूँ। तुमने मेरे पुत्रों को संन्यास का मार्ग दिखाकर मेरे साथ निन्दनीय अन्याय किया है।

तात्पर्य : श्री चैतन्य महाप्रभु ने कहा—*संन्यासीर अल्प छिद्र सर्वलोके गाय (चैतन्य-चरितामृत मध्य १२.५१)*। समाज में अनेक संन्यासी, वानप्रस्थ, गृहस्थ तथा ब्रह्मचारी मिलेंगे, किन्तु यदि वे सब अपने कर्तव्यों के अनुसार उचित ढंग से रहें तो उन्हें साधु समझा जाता है। प्रजापति दक्ष निश्चय ही साधु थे, क्योंकि उन्होंने ऐसी महान् तपस्या की थी कि भगवान् विष्णु उनके समक्ष प्रकट हुए थे। तो भी उनमें त्रुटि निकालने की मनोवृत्ति थी उन्होंने अनुचित तौर पर सोचा कि नारद मुनि असाधु हैं, क्योंकि नारद ने उनके इरादों को ध्वस्त कर दिया था। दक्ष ने अपने पुत्रों को नारायण सरस के पास तपस्या करने के लिए इस अभिलाषा से भेजा था कि वे ज्ञान से युक्त पूर्णतया गृहस्थ बन सकें। किन्तु नारद मुनि ने तपस्या में उनकी अति उच्च स्थिति का लाभ उठाकर उन्हें संन्यास आश्रम में वैष्णव बनने का उपेक्षित किया। यही नारद मुनि तथा उनके अनुयायियों का कर्तव्य है। उन्हें चाहिए कि वे सबों को इस जगत का परित्याग करने और भगवद्धाम लौटने का मार्ग दिखलाएँ। किन्तु प्रजापति दक्ष अपने पुत्रों के सम्बन्ध में नारद मुनि द्वारा किये गये कर्तव्यों की महानता को नहीं देख सके। नारद मुनि के आचरण को समझने में असमर्थ दक्ष ने नारद पर *असाधु* होने का दोषारोपण किया।

इस सन्दर्भ में *भिक्षोर्मार्ग* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। संन्यासी को त्रिदण्डीभिक्षु कहा जाता है, क्योंकि उसका कर्तव्य है कि वह गृहस्थों के घरों से भिक्षा माँगे और गृहस्थों को आध्यात्मिक

उपदेश दे। संन्यासी को द्वार द्वार जाकर भिक्षा माँगने की अनुमति है, किन्तु गृहस्थ ऐसा नहीं कर सकता। गृहस्थ चार आश्रमों के अनुसार अपनी जीविका चला सकता है, ब्राह्मण गृहस्थ विद्वान बनकर तथा सामान्य लोगों को भगवान् की पूजा करने की विधि बताकर जीविका अर्जित कर सकता है। वह स्वयं पूजा का कार्य कर सकता है। इसलिए यह कहा जाता है कि एकमात्र ब्राह्मण ही अर्चाविग्रह-पूजा में लगें और लोग अर्चाविग्रह पर जो भी प्रसाद भेंट करें उसे वे ग्रहण करें। यद्यपि कभी-कभी ब्राह्मण दान ले सकता है, किन्तु वह निजी भरण-पोषण के लिए नहीं, अपितु अर्चाविग्रह की पूजा करने के लिए होता है। इस तरह ब्राह्मण अपने भावी इस्तेमाल के लिए कुछ भी संग्रह नहीं करता। इसी तरह क्षत्रिय नागरिकों से कर वसूल सकते हैं और उन्हें नागरिकों की रक्षा भी करनी चाहिए, विधि-विधानों को लागू करना चाहिए और कानून तथा व्यवस्था बनाये रखना चाहिए। वैश्यों को कृषि तथा गो-रक्षा के द्वारा अपनी जीविका चलानी चाहिए तथा शूद्रों को तीनों उच्च वर्णों की सेवा करके अपनी जीविका चलानी चाहिए। ब्राह्मण बने बिना कोई संन्यास ग्रहण नहीं कर सकता। संन्यासी तथा ब्रह्मचारी द्वार-द्वार जाकर भीख माँग सकते हैं, किन्तु गृहस्थ नहीं।

प्रजापति दक्ष ने नारद मुनि की निन्दा की, क्योंकि द्वार-द्वार भिक्षा माँगने वाले ब्रह्मचारी नारद ने दक्ष के उन पुत्रों को संन्यासी बना दिया था, जो गृहस्थ बनने के लिए प्रशिक्षित किये जा रहे थे। दक्ष नारद पर अत्यधिक क्रुद्ध थे, क्योंकि उन्होंने सोचा कि नारद ने उनके साथ घोर अन्याय किया है। दक्ष के मतानुसार, नारद मुनि ने दक्ष के अनुभवहीन पुत्रों को गुमराह किया था (*असाध्वकार्यर्भकाणाम्*)। दक्ष अपने पुत्रों को अबोध बालक मानता था जिन्हें नारद ने संन्यास आश्रम दिखला कर गुमराह बनाया। इन सब बातों के कारण प्रजापति दक्ष ने नारदमुनि पर दोषारोपण किया कि वे असाधु थे और उन्हें साधु का वेश धारण नहीं करना चाहिए था।

कभी-कभी सन्तपुरुष को गृहस्थों द्वारा गलत समझ लिया जाता है, विशेषतया जब वह गृहस्थों के युवा पुत्रों को कृष्णभावनामृत स्वीकार करने का उपदेश देता है। सामान्यतया एक

गृहस्थ सोचता है कि गृहस्थ जीवन में प्रवेश किये बिना वह संन्यास आश्रम में ठीक से प्रवेश नहीं कर सकता। यदि कोई युवा व्यक्ति नारद के या उनकी गुरु-परम्परा के किसी सदस्य के उपदेशों के अनुसार संन्यास आश्रम का मार्ग अपनाता है, तो उसके माता-पिता अत्यधिक क्रुद्ध होते हैं। यही घटना हमारे कृष्णभावनामृत आन्दोलन में भी देखी जाती है, क्योंकि हम पाश्चात्य देशों के सारे युवा बालकों को संन्यास मार्ग अपनाने के लिए शिक्षा दे रहे हैं। हम गृहस्थ जीवन की अनुमति देते हैं, किन्तु गृहस्थ भी त्याग के मार्ग का पालन करता है। यहाँ तक कि गृहस्थ को अनेक बुरी आदतों को छोड़ना पड़ता है, जिससे उसके माता-पिता सोचते हैं कि उसका जीवन एक तरह से विनष्ट हो गया है। हम मांसहार, अवैध मैथुन, जुआ तथा नशा की अनुमति नहीं देते; फलस्वरूप माता-पिता आश्चर्य करते हैं कि किस तरह जीवन सकारात्मक हो सकता है, जबकि इतने निषेध लगे हुए हैं। विशेषतया पाश्चात्य देशों में ये चार निषिद्ध कार्य एक तरह से आधुनिक जनसमूह के प्राणाधार हैं। इसलिए माता-पिता कभी-कभी हमारे आन्दोलन को नापसन्द करते हैं, जिस तरह प्रजापति दक्ष को नारद के कार्य अच्छे नहीं लगे और उन्होंने नारद पर बेईमानी का दोषारोपण कर दिया। भले ही माता-पिता हम पर रुष्ट हों, किन्तु हमें बिना हिचक के अपना कर्तव्य निभाना है, क्योंकि हम नारदमुनि की शिष्य-परम्परा में हैं।

गृहस्थ जीवन में लिप्त रहने वाले लोग आश्चर्य करते हैं, कि किस तरह कृष्णभावनामृत में साधु बनने मात्र के लिए ही कोई गृहस्थ जीवन के भोग को त्याग सकता है, जो कि काम-भोग के लिए छूट है। वे यह नहीं जानते कि गृहस्थ को मिली यौन जीवन की छूट तब तक नियमित नहीं की जा सकती जब तक वह साधु का जीवन न बिताए। अतः वैदिक सभ्यता का आदेश है कि पचास वर्ष की आयु होते ही मनुष्य गृहस्थ जीवन का परित्याग कर दे। यह अनिवार्य है। किन्तु आधुनिक सभ्यता गुमराह हो चुकी है, अतः गृहस्थ लोग मृत्यु तक पारिवारिक जीवन में लगे रहना चाहते हैं, इसीलिए वे कष्ट उठाते हैं। ऐसे मामलों में नारद मुनि के शिष्य तरुण पीढ़ी के सभी सदस्यों को कृष्णभावनामृत आन्दोलन में तुरन्त शरीक होने की सलाह देते हैं। इसमें कोई बुराई

नहीं है।

ऋणैस्त्रिभिरमुक्तानाममीमांसितकर्मणाम् ।

विघातः श्रेयसः पाप लोकयोरुभयोः कृतः ॥ ३७ ॥

शब्दार्थ

ऋणैः—कर्जों से; त्रिभिः—तीन; अमुक्तानाम्—ऐसे पुरुषों का जो मुक्त नहीं हैं; अमीमांसित—विचार न करते हुए; कर्मणाम्—कर्तव्य-पथ; विघातः—नष्ट कर देते हैं; श्रेयसः—सौभाग्य-पथ का; पाप—हे परम पापी (नारद मुनि); लोकयोः—लोकों का; उभयोः—दोनों; कृतः—किया हुआ।

प्रजापति दक्ष ने कहा : मेरे पुत्र अपने तीन ऋणों से मुक्त भी नहीं हुए थे। दरअसल, उन्होंने ठीक से अपने कर्तव्यों पर विचार भी नहीं किया था। रे नारदमुनि! रे साक्षात् पापकर्म! तुमने इस जगत में उनके सौभाग्य की प्रगति में बाधा डाली है और दूसरी बात यह कि अभी भी वे सन्त पुरुषों, देवताओं तथा अपने पिता के ऋणी हैं।

तात्पर्य : ज्योंही ब्राह्मण जन्मता है उस पर तीन ऋण चढ़ जाते हैं—ऋषि-ऋण, देव-ऋण तथा पितृ-ऋण। सन्त पुरुषों के ऋण से उऋण होने के लिए ब्राह्मण के पुत्र को ब्रह्मचर्य पालन करना आवश्यक है। देवऋण से उऋण होने के लिए कर्मकाण्ड करना तथा पितृऋण से उऋण होने के लिए उसे सन्तान उत्पन्न करना आवश्यक है। प्रजापति दक्ष ने तर्क किया है कि यद्यपि मुक्ति के लिए संन्यास आश्रम की संस्तुति की जाती है, किन्तु जब तक वह देवताओं, सन्तों तथा अपने पिता के प्रति कर्तव्यों को पूरा नहीं कर लेता वह मुक्ति नहीं पा सकता। चूँकि दक्ष के पुत्र इन तीन ऋणों से मुक्त नहीं हो पाये थे, अतः नारद मुनि उन्हें संन्यास जीवन की ओर कैसे ले गये? स्पष्ट है कि प्रजापति दक्ष को शास्त्रों का अन्तिम निर्णय ज्ञात न था। जैसाकि श्रीमद्भागवत (११.५.४१) में कहा गया है—

देवर्षिभूताप्तनृणां पितृणां न किंकरो नायमृणी च राजन् ।

सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं गतो मुकुन्दं परिहृत्य कर्तम् ॥

हर व्यक्ति देवताओं, सामान्य जीवों, अपने परिवार, पिता इत्यादि का ऋणी होता है, किन्तु

यदि कोई मुक्तिप्रदाता कृष्ण या मुकुन्द की शरण में पूरी तरह चला जाता है, तो यदि वह यज्ञ न भी करे तो भी सारे ऋणों से उच्छ्रृण हो जाता है। यदि कोई उन पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के लिए भौतिक जगत का परित्याग कर देता है जिनके चरणकमल हर एक के आश्रय हैं, तो वह अपने ऋणों से उच्छ्रृण हुए बिना ही मुक्त हो जाता है। यह शास्त्र का निर्णय है। अतः नारद मुनि प्रजापति दक्ष के पुत्रों को तुरन्त ही इस भौतिक जगत का परित्याग करने तथा भगवान् की शरण ग्रहण करने के लिए उपदेश देने में पूरी तरह से सही थे। दुर्भाग्यवश, हर्यश्वों तथा सवलाश्वों के पिता प्रजापति दक्ष नारदमुनि द्वारा की गई महती सेवा को समझ नहीं सके। अतएव दक्ष ने उन्हें पाप (साक्षात् पापकर्म) तथा असाधु (असन्त पुरुष) कहकर सम्बोधित किया। चूँकि नारद मुनि महान् सन्त तथा वैष्णव थे, अतएव उन्होंने प्रजापति दक्ष के ऐसे समस्त आरोपों को सहन कर लिया। उन्होंने प्रजापति दक्ष के सारे पुत्रों का उद्धार करके, उन्हें भगवद्धाम वापस जाने में समर्थ बनाकर वैष्णव के रूप में अपना कर्तव्य पूरा किया।

एवं त्वं निरनुक्रोशो बालानां मतिभिद्धरेः ।
पार्षदमध्ये चरसि यशोहा निरपत्रपः ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; त्वम्—तुम (नारद); निरनुक्रोशः—दयाविहीन; बालानाम्—अबोध, अनुभवहीन बालकों का; मति-भित्—चेतना को दूषित करते हुए; हरेः—भगवान् के; पार्षद-मध्ये—निजी संगियों के बीच; चरसि—विचरण करते हुए; यशः-हा—भगवान् को बदनाम करने वाले; निरपत्रपः—निर्लज्ज (यद्यपि तुम नहीं जानते कि तुम क्या कर रहे हो, किन्तु तुम पापकर्म कर रहे हो)।

प्रजापति दक्ष ने आगे कहा : इस तरह अन्य जीवों के प्रति हिंसा करके भी अपने को भगवान् विष्णु का पार्षद कहते हुए तुम भगवान् को बदनाम कर रहे हो। तुमने व्यर्थ ही अबोध बालकों में संन्यास की प्रवृत्ति उत्पन्न की, इसलिए तुम निर्लज्ज निर्दयी हो। तुम भगवान् के निजी संगियों के साथ किस तरह विचरण कर सकते हो ?

तात्पर्य : प्रजापति दक्ष की यह मनोवृत्ति आज भी बनी हुई है। जब युवागण कृष्णभावनामृत आन्दोलन में शरीक होते हैं, तो उनके पिता एवं तथाकथित अभिभावक कृष्णभावनामृत आन्दोलन

के संस्थापक पर अत्यधिक क्रुद्ध होते हैं, क्योंकि वे सोचते हैं कि उनके पुत्रों को व्यर्थ ही प्रेरित करके उन्हें खाने, पीने तथा मौज उड़ाने के भौतिक भोगों से वंचित कर दिया गया है। कर्मी यह सोचते हैं कि इस भौतिक जगत में वर्तमान जीवन का पूरी तरह भोग किया जाना चाहिए और उच्चलोकों में जाने के लिए कुछ पुण्यकर्म भी कर लिये जाने चाहिए जिससे अगले जीवन में भी आनन्द-भोग हो सके। किन्तु योगी और वह भी भक्तियोगी, इस भौतिक जगत के मतों के प्रति क्रूर होता है। वह उन्नत भौतिकतावादी सभ्यता में दीर्घजीवन का भोग करने के लिए देवलोकों की यात्रा करने में रुचि नहीं रखता। जैसाकि प्रबोधानन्द सरस्वती ने कहा है—*कैवल्यं नरकायतेत्रिदश-पूर आकाशपुष्पायते*—भक्त के लिए ब्रह्म में तादात्म्य नरक के तुल्य है और देवलोकों का जीवन मृगतृष्णा के समान है, जिसका कोई अस्तित्व ही नहीं होता। शुद्ध भक्त योगसिद्धि, उच्चलोकों की यात्रा या ब्रह्म से एकाकार होने में रुचि नहीं रखता। वह तो एकमात्र भगवान् की सेवा करने में रुचि रखता है। चूँकि प्रजापति दक्ष कर्मी थे, अतः वे नारद मुनि की उस महती सेवा नहीं सराह सके जो उन्होंने उनके ग्यारह हजार पुत्रों के प्रति की थी। उल्टे, उन्होंने नारदमुनि पर पापी होने का दोषारोपण किया और यह आरोप लगाया कि चूँकि नारद मुनि भगवान् के साथ रहते हैं इसलिए भगवान् भी बदनाम हो जायेंगे। इस तरह दक्ष ने निन्दा की कि नारद मुनि भगवान् के प्रति अपराधी हैं, यद्यपि वे भगवान् के पार्षद जाने जाते हैं।

ननु भागवता नित्यं भूतानुग्रहकातराः ।

ऋते त्वां सौहृदघ्नं वै वैरङ्करमवैरिणाम् ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

ननु—अब; भागवताः—भगवद्भक्त; नित्यम्—शाश्वत रूप से; भूत-अनुग्रह-कातराः—पतित बद्धजीवों को वर देने के लिए अतीव उत्सुक; ऋते—सिवाय; त्वाम्—तुम्हारे; सौहृद-घ्नम्—मैत्री तोड़ने वाले (अतएव भागवतों में गिनती किये जाने के अयोग्य); वै—निस्सन्देह; वैरम्-करम्—तुम शत्रुता उत्पन्न करते हो; अवैरिणाम्—जो शत्रु नहीं हैं ऐसे पुरुषों के प्रति।

तुम्हें छोड़कर अन्य सारे भगवद्भक्त बद्धजीवों के प्रति अत्यन्त दयालु हैं और दूसरों को लाभ पहुँचाने के इच्छुक रहते हैं। यद्यपि तुम भक्त का वेश धारण करते हो, किन्तु तुम उन

लोगों के साथ शत्रुता उत्पन्न करते हो जो तुम्हारे शत्रु नहीं हैं, या तुम मित्रों के बीच मैत्री तोड़ते हो और शत्रुता उत्पन्न करते हो। क्या इन गर्हित कार्यों को करते हुए अपने को भक्त कहने से लज्जित नहीं होते ?

तात्पर्य : नारद मुनि की शिष्य-परम्परा के सेवकों को ऐसी निन्दाओं को सहन करना पड़ेगा। हम कृष्णभावनामृत आन्दोलन के माध्यम से कठोर विधियों का पालन करते हुए युवाओं को भक्त बनने तथा भगवद्धाम वापस जाने के लिए प्रशिक्षित करने का प्रयास कर रहे हैं, किन्तु हमारी सेवा की प्रशंसा न तो भारत में की जाती है न ही पाश्चात्य देशों में, जहाँ हम इस कृष्णभावनामृत आन्दोलन का विस्तार करने का प्रयास कर रहे हैं। भारत में ब्राह्मण जाति के लोग कृष्णभावनामृत आन्दोलन के शत्रु बन चुके हैं, क्योंकि हम विदेशियों को, जो कि म्लेच्छ तथा यवन माने जाते हैं, ब्राह्मण-पद तक ऊपर उठाते हैं। हम उन्हें तपस्या का प्रशिक्षण देते हैं और उनका यज्ञोपवीत करके उन्हें ब्राह्मण के रूप में मान्यता प्रदान करते हैं। इस तरह भारत के ब्राह्मण जाति के लोग पाश्चात्य जगत में हमारे कार्यकलापों से अत्यधिक अप्रसन्न हैं। पश्चिम में भी जो युवा इस आन्दोलन में शामिल होते हैं उनके माता-पिता भी हमारे शत्रु बन गये हैं। शत्रु बनाना हमारा कार्य नहीं, किन्तु विधि ही ऐसी है कि अभक्तगण हमारे प्रति सदैव शत्रुभाव रखेंगे। फिर भी जैसा कि शास्त्रों में कहा गया है भक्त को सहिष्णु तथा दयालु दोनों ही होना चाहिए। प्रचार-कार्य में रत भक्तगणों को अज्ञानी लोगों द्वारा आरोपित होने के लिए तैयार रहना चाहिए, फिर भी उन्हें पतित बद्धजीवों के प्रति अत्यन्त दयालु रहना चाहिए, यदि नारद मुनि की गुरु शिष्य परम्परा का कोई व्यक्ति अपना कर्तव्य पालन करता है, तो उसकी सेवा अवश्य ही मान्य होगी। जैसा कि *भगवद्गीता* (१८.६८-६९) में भगवान् कृष्ण कहते हैं—

य इदं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वमिधास्यति ।

भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ॥

न च तस्मान् मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः ।

भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ॥

“जो व्यक्ति भक्तों को यह परम रहस्य बताता है, वह शुद्ध भक्ति को प्राप्त करता है और अन्त में वह मेरे पास वापस आता है। इस संसार में उसकी अपेक्षा कोई अन्य सेवक न तो मुझे अधिक प्रिय है और न कभी होगा।” हमें भगवान् कृष्ण के सन्देश का प्रचार करते रहना है और शत्रुओं से डरना नहीं है। हमारा एकमात्र कर्तव्य अपने इस प्रचार द्वारा, जो श्री चैतन्य तथा भगवान् कृष्ण द्वारा सेवा के रूप में स्वीकार किया जायेगा, भगवान् को तुष्ट करना है।

इस श्लोक में सुहृद-घ्नम् (मैत्री तोड़ने वाला) शब्द का प्रयोग हुआ है। चूँकि नारद मुनि तथा उनकी गुरु शिष्य परम्परा के सदस्य मैत्री तथा पारिवारिक जीवन को छिन्न-भिन्न करते हैं, अतएव कभी-कभी उन्हें सुहृदघ्नम्, अर्थात् सम्बन्धियों के बीच शत्रुता उत्पन्न करने वाला, कहा जाता है। वस्तुतः ऐसे भक्त हर जीव के मित्र हैं (सुहृदं सर्वभूतानाम्), किन्तु भ्रमवश उन्हें शत्रु समझा जाता है। प्रचार कार्य कठिन तथा अकृतज्ञ कार्य हो सकता है, किन्तु प्रचारक को भगवान् के आदेशों का पालन करना चाहिए और भौतिकतावादी व्यक्तियों से निडर रहना चाहिए।

नेत्थं पुंसां विरागः स्यात्त्वया केवलिना मृषा ।

मन्यसे यद्युपशमं स्नेहपाशनिकृन्तनम् ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; इत्थम्—इस तरह से; पुंसाम्—पुरुषों का; विरागः—वैराग्य; स्यात्—सम्भव है; त्वया—तुम्हारे द्वारा; केवलिना मृषा—मिथ्या ज्ञान वाला; मन्यसे—मैं सोचता हूँ; यदि—यदि; उपशमम्—भौतिक भोग का वैराग्य; स्नेह-पाश—स्नेह के बन्धन; निकृन्तनम्—काटते हुए।

प्रजापति दक्ष ने आगे कहा : यदि तुम यह सोचते हो कि वैराग्य की भावना जाग्रत कर देने से ही मनुष्य भौतिक जगत से विरक्त हो जायेगा तो मैं कहूँगा कि पूर्णज्ञान के जाग्रत हुए बिना तुम्हारी तरह केवल वेश बदलने से सम्भवतया वैराग्य नहीं उत्पन्न किया जा सकता।

तात्पर्य : प्रजापति दक्ष का यह कहना सही था कि मात्र वेश बदलने से कोई इस भौतिक जगत से विरक्त नहीं हो जाता। कलियुग के संन्यासी जो कि अपने श्वेत वस्त्रों को बदलकर गेरुवा

वस्त्र धारण करते हैं और तब सोचते हैं कि वे चाहे जो भी करें, तो वे भौतिकतावादी गृहस्थों से भी अधिक गर्हित हैं। इसकी संस्तुति कहीं नहीं की गई। प्रजापति दक्ष इस दोष को इंगित करने में बिल्कुल सही थे, किन्तु वे यह नहीं जानते थे कि नारद मुनि ने हर्यश्वों तथा सवलाश्वों में पूर्ण ज्ञान के माध्यम से वैराग्य की भावना जाग्रत की थी। ऐसा ही प्रबुद्ध वैराग्य वांछनीय है। मनुष्य को पूर्णज्ञान के साथ संन्यास आश्रम में प्रवेश करना चाहिए (ज्ञान वैराग्य), क्योंकि जीवन की सिद्धि तभी सम्भव है जब वह इस भौतिक जगत को इस तरह से छोड़े। उच्च पद तक सरलता से पहुँचा जा सकता है जैसाकि श्रीमद्भागवत के कथनों (१.२.७) से समर्थित होता है—

वासुदेवे भगवति भक्तियोगः प्रयोजितः ।

जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानं च यदहैतुकम् ॥

“भगवान् कृष्ण की भक्ति करने से मनुष्य को तुरन्त अहैतुक ज्ञान तथा संसार से वैराग्य प्राप्त हो जाता है।” यदि कोई व्यक्ति गम्भीरतापूर्वक भगवान् वासुदेव की भक्ति में लगता है, तो उसमें ज्ञान तथा वैराग्य स्वतः प्रकट होते हैं। इसमें कोई संशय नहीं है। प्रजापति दक्ष का यह दोषारोपण कि नारद ने उनके पुत्रों को ज्ञान के पद तक ऊपर नहीं उठाया था, सच नहीं था। प्रजापति दक्ष के सारे पुत्रों को सर्वप्रथम ज्ञान के पद तक उठाया गया था और तब उन्होंने स्वतः इस संसार का परित्याग किया था। संक्षेपतः, जब तक मनुष्य का ज्ञान जाग्रत नहीं होता, वैराग्य नहीं आ सकता, क्योंकि उच्च ज्ञान के बिना मनुष्य भौतिक भोग के प्रति आसक्ति को त्याग नहीं सकता।

नानुभूय न जानाति पुमान्विषयतीक्ष्णताम् ।

निर्विद्यते स्वयं तस्मान्न तथा भिन्नधीः परैः ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; अनुभूय—अनुभव करके; न—नहीं; जानाति—जानता है; पुमान्—पुरुष; विषय-तीक्ष्णताम्—भौतिक भोग की तीक्ष्णता; निर्विद्यते—कट जाता है; स्वयम्—स्वयं; तस्मात्—उससे; न तथा—उस तरह का नहीं; भिन्न-धीः—बदली हुई बुद्धि वाला; परैः—अन्यों द्वारा।

निस्सन्देह, भौतिक भोग ही सभी दुखों का कारण है, किन्तु कोई इसे तब तक नहीं

छोड़ पाता जब तक वह स्वयं यह अनुभव नहीं कर लेता कि यह कितना कष्टप्रद हैं। इसलिए मनुष्य को तथाकथित भौतिक भोग में रहने देना चाहिए, साथ ही साथ उसे इस मिथ्या भौतिक सुख के कष्ट का अनुभव करने के ज्ञान में प्रगति करते रहने देना चाहिए। तब अन्यो की सहायता के बिना ही वह भौतिक भोग को घृणित पायेगा। जिनके मन अन्यो द्वारा परिवर्तित किये जाते हैं, वे उतने विरक्त नहीं होते जितने कि निजी अनुभव वाले व्यक्ति।

तात्पर्य : यह कहा जाता है कि जब तक स्त्री गर्भवती नहीं होती वह शिशु को जन्म देने के कष्ट को नहीं समझ सकती। *बन्ध्या कि बुझिबे प्रसववेदना। बंध्या* शब्द का अर्थ है बाँझ औरत। ऐसी स्त्री शिशु को जन्म नहीं दे सकती तो भला वह प्रसवपीड़ा का कैसे अनुभव कर सकती है? प्रजापति दक्ष की विचारधारा के अनुसार स्त्री को पहले गर्भवती होना चाहिए और तब शिशु प्रसव की पीड़ा का अनुभव करना चाहिए। तब, यदि वह बुद्धिमती है, तो वह पुनः गर्भवती नहीं होना चाहेगी। किन्तु वास्तव में यह तथ्य नहीं है। यौन सुख इतना प्रबल होता है, कि स्त्री गर्भवती हो जाती है और शिशुजन्म के समय कष्ट पाती है, किन्तु अपने इस अनुभव के बावजूद वह पुनः गर्भवती होती है। प्रजापति दक्ष की विचारधारा के अनुसार मनुष्य को पहले भौतिक भोग में अपने को लिप्त करना चाहिए जिससे ऐसे भोग के कष्ट का अनुभव करने के बाद वह स्वतः विरक्त बन जायेगा। किन्तु भौतिक प्रकृति इतनी प्रबल है कि मनुष्य पग-पग पर कष्ट भोगने पर भी भोग करने के अपने प्रयासों को बन्द नहीं करेगा (*तृप्यन्ति नेह कृपणा बहुदुःखभाजः*)। ऐसी स्थिति में जब तक नारद मुनि जैसे भक्त की या गुरु-शिष्य परम्परा में उनके सेवक की संगति प्राप्त नहीं होती, मनुष्य की सुप्त वैराग्य भावना को जाग्रत नहीं किया जा सकता। यह तथ्य नहीं है कि चूँकि भौतिक भोग में अनेक कष्टप्रद स्थितियाँ निहित होती हैं, इसलिए मनुष्य स्वतः विरक्त हो जायेगा। मनुष्य को नारद मुनि जैसे भक्त के आशीर्वाद की आवश्यकता होती है। तभी वह भौतिक जगत के प्रति अपनी आसक्ति से विरक्त हो सकता है। कृष्णभावनामृत आन्दोलन के तरुण-तरुणियों ने भौतिक भोग की भावना का परित्याग किसी अभ्यास से नहीं किया, अपितु श्री चैतन्य महाप्रभु एवं

उनके सेवकों की कृपा से किया है।

यन्नस्त्वं कर्मसन्धानां साधूनां गृहमेधिनाम् ।
कृतवानसि दुर्मर्षं विप्रियं तव मर्षितम् ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

यत्—जो; नः—हमारे लिए; त्वम्—तुम; कर्म-सन्धानाम्—जो वैदिक आदेशों के अनुसार सकाम कर्मकाण्डों का दृढ़ता से पालन करता है; साधूनाम्—जो ईमानदार हैं (क्योंकि हम उच्च सामाजिक स्तर तथा शारीरिक सुविधाओं की ईमानदारीपूर्वक खोज करते हैं); गृह-मेधिनाम्—यद्यपि पत्नी तथा बच्चों के साथ रह रहे; कृतवान् असि—उत्पन्न किया है; दुर्मर्षम्—असह्य; विप्रियम्—गलत; तव—तुम्हारा; मर्षितम्—क्षमा किया हुआ।

यद्यपि मैं अपनी पत्नी तथा बच्चों के साथ गृहस्थ जीवन में रहता हूँ, किन्तु मैं पापफलों से रहित जीवन का आनन्द भोगने के लिए सकाम कर्म में लगकर वैदिक आदेशों का ईमानदारी के साथ पालन करता हूँ। मैंने सभी प्रकार के यज्ञ सम्पन्न किये हैं जिनमें देवयज्ञ, ऋषियज्ञ, पितृयज्ञ तथा नृयज्ञ सम्मिलित हैं। चूँकि ये यज्ञ व्रत कहलाते हैं इसलिए मैं गृहव्रत कहलाता हूँ। दुर्भाग्यवश तुमने मेरे पुत्रों को अकारण ही वैराग्य के मार्ग में गुमराह करके मुझे अत्यधिक दुख पहुँचाया है। इसे एक बार तो सहन किया जा सकता है।

तात्पर्य : प्रजापति दक्ष यह सिद्ध करना चाहते थे कि वे अत्यन्त सहिष्णु बने रहे, क्योंकि उन्होंने नारदमुनि से तब कुछ नहीं कहा जब उन्होंने अकारण ही उनके दस हजार अबोध पुत्रों को वैराग्य मार्ग अपनाने के लिए फुसला लिया था। कभी-कभी गृहस्थों को गृहमेधी होने का दोषी ठहराया जाता है, क्योंकि गृहमेधी बिना आध्यात्मिक उन्नति के पारिवारिक जीवन से तुष्ट रहते हैं। किन्तु गृहस्थ तो इससे भिन्न होते हैं, क्योंकि वे अपनी पत्नियों तथा बच्चों के साथ गृहस्थ जीवन तो बिताते हैं, किन्तु आध्यात्मिक उन्नति के लिए उत्सुक रहते हैं। यह सिद्ध करना चाहते हुए कि वे नारद मुनि के प्रति उदार रहे हैं, प्रजापति दक्ष ने बलपूर्वक कहा कि जब नारद ने उनके पहले वाले पुत्रों को गुमराह किया, तो उन्होंने कोई कार्यवाही नहीं की थी; वे दयालु तथा सहिष्णु बने रहे। किन्तु वे दुखी थे, क्योंकि नारद मुनि ने दुबारा उनके पुत्रों को गुमराह किया। इसलिए वे यह सिद्ध करना चाहते थे, कि यद्यपि नारद साधु का-सा वेश बनाये रहते हैं, किन्तु वास्तव में वे साधु

नहीं है, बल्कि गृहस्थ होते हुए वे स्वयं नारद मुनि से बड़े साधु हैं।

तन्तुकृन्तन यन्नस्त्वमभद्रमचरः पुनः ।

तस्माल्लोकेषु ते मूढ न भवेद्भ्रमतः पदम् ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

तन्तु-कृन्तन—हे शैतान, जिसने निर्दयतापूर्वक मेरे पुत्रों को मुझसे विलग कर दिया है; यत्—जो; नः—हमको; त्वम्—तुम; अभद्रम्—अशुभ वस्तु; अचरः—किया है; पुनः—फिर से; तस्मात्—इसलिए; लोकेषु—ब्रह्माण्ड के अन्तर्गत सभी लोकों में; ते—तुम्हारा; मूढ—रे धूर्त, जो यही नहीं जानता कि कैसे व्यवहार करना चाहिए; न—नहीं; भवेत्—हो सकता है; भ्रमतः—भ्रमण करने वाले; पदम्—धाम, घर।

तुमने मेरे पुत्रों को मुझसे एक बार विलग कराया और अब पुनः तुमने वही अशुभ कार्य किया है। अतः तुम धूर्त हो जो यह नहीं जानता कि अन्यो के साथ किस तरह व्यवहार करना चाहिए। भले ही तुम ब्रह्माण्ड भर में भ्रमण करते रहते हो, किन्तु मैं शाप देता हूँ कि तुम्हारा कहीं भी निवासस्थान न हो।

तात्पर्य : चूँकि प्रजापति ऐसे गृहमेधी थे, जो गृहस्थ जीवन में बने रहना चाहते थे, अतएव उन्होंने सोचा कि यदि नारद एक स्थान में न रहने पायें, अपितु सारे जगत में भ्रमण करते रहें तो उनके लिए यह बड़ा दण्ड होगा। किन्तु वस्तुतः प्रचारक के लिए ऐसा दण्ड वरदान बन जाता है। प्रचारक परिव्राजकाचार्य कहलाता है अर्थात् ऐसा आचार्य या शिक्षक जो मानव-समाज के लाभ हेतु सदैव विचरण करता रहता है। प्रजापति दक्ष ने यह कहते हुए नारद मुनि को शाप दिया कि यद्यपि उन्हें सारे ब्रह्माण्ड में भ्रमण करने की सुविधा है, किन्तु वे किसी एक स्थान में कभी ठहर नहीं सकेंगे। नारदमुनि की परम्परा में मैं भी शापित हुआ हूँ। यद्यपि ऐसे अनेक केन्द्र हैं, जो मेरे रहने के लिए उपयुक्त स्थान हो सकते हैं, किन्तु मैं कहीं भी ठहर नहीं पाता, क्योंकि मैं अपने तरुण शिष्यों के माता-पिताओं द्वारा शापित हूँ। जब से कृष्णभावनामृत आन्दोलन चालू किया गया है, मैंने वर्ष में दो-तीन बार सारे संसार की यात्रा की है और जहाँ-जहाँ मैं जाता हूँ वहाँ वहाँ मुझे आरामदेह स्थान ठहरने को दिये जाते हैं, किन्तु मैं कहीं भी तीन दिन या एक सप्ताह से अधिक रुक नहीं पाता हूँ। मैं अपने शिष्यों के माता-पिताओं के इस शाप की परवाह नहीं करता, किन्तु

अब यह आवश्यक है कि मैं किसी एक स्थान पर अन्य कार्य को—श्रीमद्भागवत के इस अनुवाद को—पूरा करने के लिए ठहरूँ। यदि मेरे तरुण शिष्य, विशेषरूप से वे जिन्होंने संन्यास ग्रहण किया है, सारे जगत में भ्रमण करने का कार्यभार ले सकें तो मेरे लिए यह संभव हो सकता है कि मैं माता-पिताओं का यह शाप इन तरुण प्रचारकों पर अन्तरित कर सकूँ। तब मैं सुविधापूर्वक एक स्थान पर अनुवाद का कार्य करने के लिए बैठ सकूँगा।

श्रीशुक उवाच

प्रतिजग्राह तद्वाढं नारदः साधुसम्मतः ।

एतावान्साधुवादो हि तितिक्षेतेश्वरः स्वयम् ॥ ४४ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; प्रतिजग्राह—स्वीकार किया; तत्—वह; बाढम्—तथास्तु; नारदः—नारदमुनि; साधु-सम्मतः—जो माने हुए साधु हैं; एतावान्—इतना; साधु-वादः—साधु पुरुष के अनुकूल; हि—निस्सन्देह; तितिक्षेत—वह सहन कर सके; ईश्वरः—यद्यपि प्रजापति दक्ष को शाप देने में समर्थ; स्वयम्—स्वयं।

श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा : हे राजन्! चूँकि नारद मुनि माने हुए साधु पुरुष हैं, अतः जब प्रजापति दक्ष ने उन्हें शाप दिया तो उन्होंने उत्तर दिया तद् बाढम्—“ठीक, तुमने जो भी कहा है उत्तम है। मैं इस शाप को स्वीकार करता हूँ।” वे चाहते तो उलट कर प्रजापति दक्ष को शाप दे सकते थे, किन्तु उन्होंने कोई कार्यवाही नहीं की, क्योंकि वे सहिष्णु तथा दयालु साधु हैं।

तात्पर्य : जैसाकि श्रीमद्भागवत (३.२५.२१) में कहा गया है—

तितिक्षवः कारुणिकाः सुहृदः सर्वदेहिनाम् ।

अजातशत्रवः शान्ताः साधवः साधुभूषणाः ॥

“साधु के लक्षण हैं कि वह सहिष्णु, दयालु तथा सभी जीवों के प्रति मैत्रीपूर्ण होता है। उसका कोई शत्रु नहीं होता, वह शान्त होता है, वह शास्त्रों का पालन करता है और उसके सारे गुण उदात्त होते हैं।” चूँकि नारदमुनि सर्वाधिक उच्च साधु या भक्त हैं, अतः उन्होंने प्रजापति दक्ष का उद्धार करने हेतु उस शाप को मौन भाव से सह लिया। श्री चैतन्य महाप्रभु ने अपने सारे भक्तों

को इसी सिद्धान्त की शिक्षा दी है—

तृणादपि सुनीचेन तरोरपि सहिष्णुना ।

अमानिना मानदेन कीर्तनीयः सदा हरिः ॥

“मनुष्य को चाहिए कि अपने को रास्ते के तिनके से भी तुच्छ समझकर मन में विनम्र भाव से भगवान् के पवित्र नाम का कीर्तन करे। उसे वृक्ष से भी अधिक सहनशील होना चाहिए, मिथ्या प्रतिष्ठा के भाव से रहित होना चाहिए तथा दूसरों को आदर देने के लिए तैयार रहना चाहिए। ऐसी मनोदशा में वह भगवान् के पवित्र नाम का निरन्तर कीर्तन कर सकता है।” जो व्यक्ति श्री चैतन्य महाप्रभु के आदेशों का पालन करते हुए संसार-भर में या सारे ब्रह्माण्ड में भगवान् की महिमा का प्रचार करता है उसे घास या तिनके से भी अधिक विनम्र तथा वृक्ष से भी अधिक सहनशील होना चाहिए, क्योंकि प्रचारक आरामदेह जीवन नहीं बिता सकता। निस्सन्देह, प्रचारक को अनेक अवरोधों का सामना करना पड़ता है। वह कभी-कभी न केवल शापित होता है, अपितु उसे शारीरिक चोटें भी सहनी पड़ती हैं। उदाहरणार्थ, जब नित्यानन्द प्रभु जगाइ तथा माधाइ नामक दो उचक्रे भाइयों के पास कृष्णभावनामृत का प्रचार करने गये तो उन्होंने उन्हें चोट पहुँचाई जिससे उनके सिर से खून बहने लगा था। फिर भी उन्होंने सहिष्णुतापूर्वक उन दोनों उचकों का उद्धार किया जिससे वे पूर्ण वैष्णव बन गये। प्रचारक का यही कर्तव्य है। जीसस क्राइस्ट को तो शूली पर भी चढ़ना पड़ा था। अतएव नारदमुनि को दिया गया शाप अधिक आश्चर्यप्रद नहीं था और उन्होंने उसे सह लिया।

अब यह पूछा जा सकता है कि नारदमुनि प्रजापति दक्ष के सम्मुख क्यों रुके रहे और उनके सारे दोषारोपों तथा शापों को सहते रहे? क्या यह दक्ष के उद्धार के लिए था? उत्तर है—हाँ। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर कहते हैं कि प्रजापति दक्ष द्वारा अपमानित होने के बाद नारदमुनि को वहाँ से तुरन्त चले जाना चाहिए था, किन्तु वे जानबूझकर दक्ष के कटु शब्दों को सुनने के लिए रुके रहे जिससे दक्ष का क्रोध शान्त हो जाये। प्रजापति दक्ष कोई सामान्य व्यक्ति न थे। उन्होंने

अनेक पुण्यकर्मों के फल संचित कर रखे थे। इसलिए नारद मुनि को आशा थी कि शाप देने के बाद दक्ष तुष्ट होकर तथा क्रोध से मुक्त होकर अपने दुर्व्यवहार के लिए पश्चात्ताप करेंगे और इस तरह वैष्णव बनने का अवसर प्राप्त करेंगे तथा उनका उद्धार हो सकेगा। जब जगाड़ तथा माधाड़ ने नित्यानन्द का अपमान किया, तो नित्यानन्द सहनशील बनकर खड़े रहे, इसलिए दोनों भाई उनके चरणों पर गिर पड़े और उन्होंने पश्चात्ताप किया। फलस्वरूप बाद में वे पूर्ण वैष्णव बन गये।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के षष्ठ स्कन्ध के अन्तर्गत “प्रजापति दक्ष द्वारा नारदमुनि को शाप” नामक पाँचवें अध्याय के भक्ति वेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।